चिरयौवन
का
रहस्योद्घाटन
– ब्रह्मवर्चस्

जीवन-रस को छककर पीते ये चिर-युवा

आमतौर पर ६०-७० वर्ष से अधिक आयु के संबंध में यह माना जाता है कि इस उम्र में मनुष्य की जीवनी शक्तियाँ चुकने लगती है। लोग इस आयु में मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगते हैं और जीवन से हताश होकर निष्क्रिय, निद्रित, मरणोन्मुख मृत प्रायः जिंदगी जीने लगते हैं। वास्तविकता यह है कि मनुष्य की पूर्ण आयु १०० वर्ष की निर्धारित की गई है। ऋषियों ने भी मनुष्य की आयु के चार भाग करके उसे चार आश्रमों में बाँटकर क्रमशः व्यक्तिगत, पारिवारिक तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के निर्देश दिए थे, किंतु इन दिनों थोड़े ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो ६०-७० की आयु पार करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की गिनती तो उङ्गली पर की जा सकती है, जिन्होंने सौ वर्ष की जिंदगी देखी और जी है। पिछले दिनों अमरीका में हुई जनगणना के अनुसार वहाँ २९ हजार व्यक्ति ऐसे थे जो सौ वर्ष की आयु पार कर चुके थे और इसके बाद भी वे सक्रिय थे।

इतनी लम्बी अवधि तक कैसे जीवित रहा जा सका ? और कैसे क्रियाशील जीवन व्यतीत किया गया ? इसका उत्तर प्राप्त करने के लिए डॉ० आर्ष गौलुक और डॉ० एपिन हिल ने खोजबीन की, उन्होंने २९ हजार व्यक्तियों में से ४०० ऐसे व्यक्तियों को चुना जो सौ वर्ष की आयु पार कर चुके थे और उसी प्रकार व्यस्त जिंदगी बिता रहे थे, जैसी कि अन्य लोग ५०-६० की आयु में बिताया करते हैं। इन ४०० व्यक्तियों में १५० पुरुष थे और २५० महिलाएँ थीं। महिलाओं की संख्या इसलिए अधिक रखी गई कि देखा गया था, पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ ही अधिक दीर्घजीवी होती हैं।

इस सर्वेक्षण के समय आशा यह की गई थी कि ऐसे उत्तर प्राप्त होवें जिनसे दीर्घ जीवन के संबंध में किन्हीं अविज्ञात रहस्यों पर से

पर्दा उठाया जा सकेगा और कुछ ऐसे सूत्र प्राप्त हो सकेंगे जिन्हें अपनाकर दीर्घ जीवन की इच्छा रखने वाले दीर्घायुष्य प्राप्त कर सकेंगे। इस बात की भी तैयारी की गई थी कि जो निष्कर्ष प्राप्त होंगे उन्हें अनुसंधान का विषय बनाया जाएगा और देखा जाएगा कि इन सिद्धांतों को किस स्थिति में, किस व्यक्ति के लिए किस प्रकार प्रयोग कर पाना संभव है, किंतु जब सर्वेक्षण पूरा हुआ तो सभी पूर्व कल्पनाएँ मिथ्या सिद्ध हुई और प्राप्त अनुसंधान के लिए की गई तैयारियाँ निरस्त कर देनी पड़ी।

जिन व्यक्तियों से प्रश्न किया गया कि आप लंबी अवधि तक कैसे जिए ? उनमें से २८ प्रतिशत ने कहा कि हम इस संबंध में कुछ नहीं कह सकते, हम नहीं जानते कि इतनी उम्र हमने कैसे पाई ? हमने इसके लिए कोई विशेष प्रयास नहीं किया, यह अनायास ही हो गया। २२ प्रतिशत लोगों ने इसे ईश्वर की इच्छा बताया, १७ प्रतिशत का कहना था कि वे अपनी समस्याओं की ओर से उदासीन रहें। १६ प्रतिशत व्यक्तियों ने अपने दीर्घ-जीवन का कारण परिश्रमशीलता और नियमितता को बताया। ११ प्रतिशत ने कहा कि हमारे पूर्वज दीर्घजीवी होते रहे हैं सो हमें भी दीर्घजीवन उनसे विरासत में मिला। केवल ६ प्रतिशत व्यक्ति ऐसे थे जिन्होंने कहा कि उन्होंने जानबूझकर लंबी जिंदगी जीने के लिए नियमित आहार-विहार और स्वास्थ्य के नियमों का पालन किया।

इस सर्वेक्षण में डॉ० हिल ने दीर्घजीवी व्यक्तियों से जो उत्तर प्राप्त किए वे आश्चर्यजनक भले ही न हों पर कौतूहलवर्धक अवश्य है। ये निष्कर्ष ऐसे नए तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं जिनमें दीर्घ जीवन प्राप्त करने के लिए कोई चमत्कारी गुर प्राप्त करने को लालायित व्यक्तियों के हाथ निराशा ही लग सकती है। इन उत्तरों में एक अजीब बात यह है कि सोचना पड़ता है, क्या सभ्यता के इस युग में दकियानूसीपन

वास्तव में दीर्घजीवन का आधार बन सकता है ?

११५ वर्षीय सिनेसिनोटी ने नशेबाजी से हमेशा परहेज रखा। १०० वर्षीय जान यषर्टस ने कहा कि मुझे पकवान कभी नहीं रुचे और मैंने हमेशा सादा भोजन ही किया। १०२ वर्षीय दन्त चिकित्सक को हमेशा मस्ती में रहना अच्छा लगा। अपने काम से फुरसत मिलने पर उसे हमेशा गाना ही प्रीतिकर लगा। हालांकि उसका कंठ मधुर नहीं है फिर भी वह अपने क्लिनिक में पुराने गीतों को भर्राए स्वर में गाता रहता है।

लुलु विलियम्स ने बताया कि उसने कभी भरपेट भोजन नहीं किया। वह हमेशा भूख से कम भोजन करता रहा। श्रीमती मैगर १०३ वर्ष की हो चुकी है, आलू और रोटी उनका प्रिय आहार रहा है। इसके अलावा उन्होंने कोई व्यंजन नहीं खाया। स्त्रियों में से अधिकांश ने कहा कि वे अपने घर-गृहस्थी में इस तन्मयता और गहराई से लगी रहीं कि उन्हें अपनी उम्र का कभी ख्याल नहीं आया ।

१७६ वर्षीय हैफगुच नामक गड़रिए ने कहा कि मैं अपने आपको भेड़ों के झुंड में से ही एक भेड़ मानता रहा और ढर्रे के जीवन क्रम पर संतोष किया। उसने न बेकार की महत्वाकांक्षाएँ पाली और न सिर खपाने वाले झंझट मोल लिए। कैलोरडे का कथन है कि एक दिन जवानी में उसने ज्यादा शराब पी तो वह बीमार पड़ गया। ठीक होने के बाद उसने निश्चय किया वह ऐसी चीजें नहीं खाया करेगा, जिसने लाभ के स्थान पर उलटी हानि होती हो। मेनदोके ने जोर देकर कहा कि मैंने कभी ज्यादा सोच विचार करने की जहमत नहीं पाली और न ही कभी किसी बात पर खीझा।

यह आश्चर्य की बात है कि इन वृद्धों में से नियमित व्यायाम करने वाले तो १० प्रतिशत भी नहीं थे। अधिकांश का कहना यह था कि हमारा दिन भर का काम ही ऐसा रहा, जिसमें शरीर थक कर चूर-

चूर हो जाता है फिर हम क्यों बेकार के झंझट में पड़ते ? वर्ग विभाजन के अनुसार आधे से अधिक लोग ऐसे निकले जो श्रमजीवी थे और कड़ी मेहनत के द्वारा ही अपनी जीविका उपार्जित करते थे। स्त्रियों में अधिकांश श्रमिक मजदूर वर्ग की थी। मानसिक श्रम करने पर भी दीर्घजीवन प्राप्त करने वालों का प्रतिशत केवल ८ प्रतिशत ही निकला।

सेन फ्रांसिस्को का १०३ वर्षीय विलियम मेरी सैनिक था। उसने कहा युद्ध में मुझे कई बार गोलियाँ लगी और प्रायः गहरी चोटें आईं। उपचार के लिए अस्पताल में भी रहना पड़ा और गम्भीर आपरेशन भी हुए पर मरने की आशंका कभी छू तक नहीं पाई। उन कष्ट कर दिनों में भी कभी आँसू नहीं निकले बल्कि यही सोचता रहा कि अस्पताल से छुट्टी मिलने पर वह जल्दी ही घर लौटेगा और शानदार जिन्दगी गुजारेगा।

श्रीमती मेरुचीर्रे ने कहा था कि उसे परिवार और पड़ोस के बच्चों से विशेष लगाव रहा है। उन्हीं के साथ हिलमिल कर उसने खुद को इतना तन्मय रखा कि अपना बुढ़ापा भी बचपन जैसी हर्षोल्लास भरी सरलता का आनंद लेता रहा।

व्यवसाय के अनुसार दीर्घजीवियों का वर्गीकरण करने पर पता चला कि नौकरी पेशा लोगों की अपेक्षा स्वतंत्र व्यवसाय में लगे लोग अधिक लंबी जिन्दगी जीते हैं उन्हें मालिकों की खुशामद नहीं करनी पड़ती और न उनकी डाट डपट सहकर अपने आपको व्यग्र रखना पड़ता है। स्वतंत्र व्यवसाय करने के कारण इन लोगों को भले ही शारीरिक श्रम अधिक करना पड़ता हो, किंतु उन पर हीनता और खिन्नता का दबाव नहीं पड़ता। कई व्यक्ति ऐसे भी थे जो नौकरी करते थे और नौकरी के दिनों में प्रायः अस्वस्थ रहते थे। देखा गया कि रिटायर होने के बाद वे स्वस्थ रहने लगे। उनके निरोग रहने का कारण यही था कि रिटायर होने के बाद उन्हें अपने पसंद की दिनचर्या बिताने

और स्वतंत्र रूप से नई योजना बनाने का अवसर मिल गया।

इस सर्वेक्षण में एक बात स्पष्ट रूप से उभर कर आई, वह यह कि दीर्घायु प्राप्त करने के लिए अलमस्त प्रकृति का होना अत्यंत आवश्यक है। इसके बिना गहरी नींद नहीं आ सकती और जो शांति से निंद्रा नहीं ले सकेंगे उन्हें लंबी जिंदगी कैसे मिलेगी ? इसी प्रकार खाने और पचाने की संगति जिन्होंने अपना ली, उन्हीं को निरोग रहने का अवसर मिला है और वे ही अधिक दिन तक जीवित रह सके हैं। एक वृद्ध व्यक्ति ने पेट के सही रहने की बात पर हँसते हुए प्रकाश डाला और कहा, यह तो नितांत आसान है। बड़ी सरलता से कब्ज से बचा जा सकता है। भूख से कम खाया जाए तो न किसी को कब्ज रह सकता है और न ही डॉक्टर की शरण में जाने की जरूरत पड़ती है।

आस्था भी व्यक्ति को दीर्घायुष्य प्रदान करने में सक्षम और समर्थ आधार है। हेफेकुक ने कहा, मैंने ईश्वर पर सच्चे मन से विश्वास किया है और माना है कि वह आड़े वक्त में निश्चित रूप से सहायता करता है। भावी जीवन के लिए निश्चिंतता की स्थिति मैंने इसी विश्वास के आधार पर प्राप्त की और निश्चिंत रहा। जेम्स हेनरी ब्रंट का कथन है कि वह एक धार्मिक व्यक्ति है। विश्वास की दृष्टि से नहीं आचरण की दृष्टि से भी उसने धर्म का पालन किया। धार्मिक मान्यताओं ने उसे पाप पंक में गिरने का अवसर ही नहीं दिया।

गहराई से इन दीर्घजीवियों के मानसिक स्तर का विश्लेषण किया गया तो यह तथ्य सामने आए कि उन्होंने किसी के साथ छल विश्वास-घात या निष्ठुर व्यवहार नहीं किया। उन्होंने सज्जनता की नीति अपनाई और अपनी जिंदगी को एक खुली किताब की तरह जिया, जिसमें दबाने लायक या छिपाने लायक कुछ भी नहीं था। न तो उन्होंने किसी का बुरा चाहा और न ही कभी किसी का बुरा किया। फलतः सभी

लोगों से उनके संबंध मैत्री और सद्भाव पूर्ण रहे, कभी कोई नोंक-झोंक हुई भी तो वह बात ऐसे ही भुला दी। किसी अप्रिय घटना को उन्होंने मन में गाँठ बाँधकर नहीं रखा। बेकार की बातों को अनसुनी कर देने और भुला देने के स्वभाव ने उन पर ऐसा मानसिक तनाव नहीं पड़ने दिया जिसके कारण उन्हें उद्विग्न होकर रहना पड़े।

इन ४०० दीर्घजीवियों में से एक पेट्रिस ने अपने भूतकाल की सुखद स्मृतियों को बनाए रखने की आदत को अपने दीर्घजीवन का कारण बताया। वह अपनी सुखद स्मृतियों को रस ले ले कर सुनाया करता था साथ ही उसे इस बात की भी शिकायत नहीं थी कि वह वृद्ध हो गया है। उसे इस बात का गर्व था कि उसका अतीत बहुत शानदार रहा है। वह कहता था, भला यह भी कोई कम गर्व और संतोष की बात है ? आज के अवसान की तुलना करके अतीत की सुखद स्मृतियों और कल्पनाओं को क्यों धूमिल किया जाए ? हेन्स बोर्ड का कथन था कि उसने जिन्दगी भर आनंद भोगा है। हर खट्टी मीठी घटना से कुछ पाने और सीखने का प्रयत्न किया है। अनुकूलता का अपना आनंद है और प्रतिकूलता का दूसरा । मैंने दोनों प्रकार की स्थितियों का रस लेने का उत्साह रखा और आजीवन आनंदित रहा।

इन सभी दीर्घजीवियों के अनुभव प्राप्त करने के बाद निष्कर्ष यह सामने आया कि वे सभी अपनी वर्तमान स्थिति से संतुष्ट थे। वे मानते थे कि बुढ़ापा अनिवार्य है और मौत भी एक निश्चित अटल सच्चाई है, फिर इससे डरने का क्या अर्थ ? इन ४०० व्यक्तियों में से सभी लोग सदा निरोग रहे हों, ऐसी बात नहीं है, बीच-बीच में बीमारियाँ भी सताती रहीं और दवादारू भी करानी पड़ी, पर मानसिक बीमारियों ने उन्हें कभी त्रास नहीं दिया। लंबी अवधि में उन्हें अपने स्त्री बच्चों तक को दफनाना पड़ा, कितनों का ही दाम्पत्य जीवन टूटा, अनेकों को तलाक लेना पड़ा और कईयों के बच्चे कृतघ्न निकले। लेकिन इन

सब बातों का उन्होंने अपने मन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ने दिया। यों भी कहा जा सकता है कि वे मानसिक दृष्टि से इतने परिपक्व थे अथवा उनकी संवेदना इतनी विकसित नहीं हुई थी कि इन घटनाओं का उन पर कोई असर होता। वहरहाल, इन दुखद स्थितियों से वे अप्रभावित ही रहे छक कर जीवन रस पीते रहें।

यह सुनकर अत्यंत आश्चर्य होता है कि प्राचीन काल में सौ वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहना एक सामान्य बात थी। अविश्वसनीय इसलिए भी लगता है कि ऐसे उदाहरण मात्र अपवाद बनकर रह गए हैं। शतायु पार करने वाले व्यक्तियों को तो अब दैवी सामर्थ्य से संपन्न मानकर संतोष कर लिया जाता है, पर वास्तविकता यह है कि प्राकृतिक जीवनचर्या अपना कर कोई भी व्यक्ति दीर्घ जीवन का लाभ प्राप्त कर सकता है, समय-समय पर विरले व्यक्तियों के तो उदाहरण मिलते रहते हैं जो शतायु को पार कर चुके हैं, पर हाल ही में एक ऐसे गाँव का उदाहरण सामने आया है जहाँ आकस्मिक दुर्घटनाओं के अतिरिक्त गाँव का कोई भी व्यक्ति सौ वर्ष के पूर्व नहीं मरता है।

सोवियत रूस से प्रकाशित होने वाली मासिक पत्रिका स्पूतनिक के मार्च १९८२ अंक में ऐसे ही एक गाँव का उल्लेख है जहाँ कि शतायु प्राप्त करने वाले व्यक्तियों का जमघट है। रूस के दक्षिण पश्चिम भाग के अजर-वैजान प्रांत के वृहत काकेशश पहाड़ी के बीच तेट-नेट नदी की घाटी में अवस्थित उस गाँव का नाम है-कासिम बीना केण्ड। सारे संसार में मात्र यही ऐसा गाँव है जहाँ प्रायः अधिकांश व्यक्तियों की मृत्यु सौ वर्ष पूरे करने के बाद ही होती है। समुद्र तट से तीन हजार मीटर ऊपर बसे इस गाँव के चारों ओर गगनचुम्बी पर्वत की चोटियाँ गाँव के चारों ओर आठ माह तक बर्फ रूपी चादर ताने रहती है प्रकृति का यह अनुपम श्रृंगार देखते बनता है। ऐसी मान्यता है पहले यह गाँव

सुनसान था। भीषण ठंड और आवागमन की असुविधा के कारण लोग वहाँ रहने से कतराते थे। कासिम बीना केण्ड गाँव का नाम कासिम नामक एक व्यक्ति के कारण पड़ा। कहते हैं कि प्रकृति के इस उन्मुक्त 'नयनाभिराम अंचल में स्थाई रूप से रहने का दुस्साहस उस व्यक्ति ने किया। धीरे-धीरे परिवार की आबादी बढ़ती गई और पूरा गाँव ही बस गया। कासिम की मृत्यु १३० वर्ष पूरे करने पर हुई। गाँव में परिवारों की संख्या अब दो सौ के लगभग है।'

इस गाँव में अभी दर्जनों व्यक्ति ऐसे हैं जिनकी आयु सौ वर्ष से ऊपर है। १४८ वर्षीय गुलीयमंडम मेरी नामक वृद्धा जो अपने को युवती कहती है को आज भी नौजवानों की भाँति घुड़सवारी करते देखा जा सकता है। दर्शक उसकी अधिकतम आयु पचास वर्ष आँकते हैं। 'रुस्तम कीशी' नामक व्यक्ति की आयु १२० वर्ष है। वन रक्षक का कार्य पूरी मुस्तैदी से संभालते उन्हें देखा जा सकता है। रुस्तम कीशी के साथ ही उसका १३५ वर्षीय मित्र लकड़ी का व्यवसाय करता है। कई बार वन विभाग ने रुस्तम को सवैतनिक स्थायी रूप से छुट्टी देनी चाही पर उसने यह कहकर लेने से इन्कार कर दिया कि काम के बिना तो मैं जिंदा भी नहीं रह सकता।

रूस के ही एक " मखमूद इबाजोब" नामक किसान १५८ वर्ष के हुए हैं। उनके कार्य, स्वास्थ्य एवं सक्रियता की बड़ी सराहना की गई। सोवियत सरकार ने उन्हें " ऑनर आफ रेड बैनर आफ लेवर" से १९५६ ई० में विभूषित किया था।

रूस में ओसेतिया निवासी एक महिला 'तेपोआब्जीव' ने दीर्घायु का विशेष रिकार्ड स्थापित कर दिया। सन् ५८ में एक-सौ अस्सी वर्ष की लम्बी आयु में देहांत हुआ था। उनका कथन है कि मात्र मन को संतुलित एवं शांत रखकर जीवन यापन करने से शरीर रूपी यंत्र बड़े लंबे समय तक काम करता रह सकता है। इन चिरयुवाओं के दीर्घ

जीवन का रहस्य जानने के लिए विश्व के कितने ही देशों के विशेषज्ञ वहाँ जा चुके हैं। सबने एक स्वर से स्वीकार किया है कि गाँव के लोगों की नीरोगता, स्वस्थता तथा दीर्घ जीवन का एक मात्र रहस्य है, उनकी प्राकृतिक जीवनचर्या, जो आज की तथाकथित सभ्यता की कृत्रिम जीवनचर्या के प्रभाव से अभी अछूती हैं। प्रसन्नता, प्रफुल्लता चेहरे से टपकती रहती है। क्रोध एवं आवेश को वे रोगों की श्रेणी में गिनते हैं। आहार में दूध, साग, सब्जियों को प्रधानता देते हैं। परिश्रम उनका आभूषण है। ग्रामवासियों के साक्षात्कार के लिए गए, एक पत्रकार का कहना है कि 'रुग्णता, दुर्बलता एवं अशक्तता के दावानल में जलते सुख-सुविधाओं से युक्त आज के प्रगतिशीलों को जीवन कैसे जीना चाहिए, यह प्रेरणा इन पिछड़े ग्रामवासियों से लेनी चाहिए।'

दीर्घायुष्य का रहस्य प्राकृतिक जीवन क्रम

खरगोश की औसत आयु ७ वर्ष होती है। बिल्लियाँ और बकरियाँ १२ वर्ष तक जीवित रहती हैं। कबूतर ८ वर्ष और घोड़े ५० वर्ष तक जीवित रहते हैं। कछुए एवं सर्प की औसतन आयु १५० वर्ष और १२० वर्ष होती है। मनुष्य की आयु १०० वर्ष आँकी गई है। मनुष्य को छोड़कर अन्य जीवों के जीवनक्रम पर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि उनमें सदा यौवन का उत्साह बना रहता है। आयु की दृष्टि से उनकी संपूर्ण आयु में बचपन, यौवन एवं वृद्धावस्था की कोई स्पष्ट सीमा रेखा दृष्टिगोचर नहीं होती है। अपवादों एवं दुर्घटनाओं को छोड़ दिया जाए तो पर्यवेक्षण करने पर शायद ही कोई जीव ऐसा दिखाई पड़े जो रोग ग्रस्त पड़ा हो अथवा वृद्धावस्था के कारण शक्ति रहित बना असमर्थता के चंगुल में जकड़ा हो। अधिकांशत: पशु-पक्षी जीवन-पर्यंत युवा बने रहते हैं। उनकी मृत्यु वृद्धावस्था की असमर्थता में नहीं, यौवन जैसे उत्साह एवं उमंगों के बीच होती है। उछलते, कूदते,

मचलते, इठलाते जीवों को कभी भी मृत्यु का, वृद्धावस्था का आभास नहीं होता। पैदा होते हैं चिरयौवन की उमंगों के साथ और मरते हैं यौवन की उमंगों के बीच। जरावस्था की थकान क्या होती है इससे वे सदा अनभिज्ञ बने रहते हैं। साधनों की दृष्टि से पिछड़े, शक्ति, सामर्थ्य, एवं बुद्धि में अविकसित इन मनुष्येत्तर जीवों के चिरयौवन के कारणों की खोज करते हैं तो एक ही तथ्य हाथ लगता है, प्राकृतिक दिनचर्या आशंकाओं से रहित उमंग एवं उत्साह से भरा जीवन क्रम।

मचलते, इतराते युवा उमंगों से युक्त पशु-पक्षियों के मस्त जीवन का रहस्योद्घाटन करते हुए संत फ्रांसिस कहते हैं कि प्राणि-सृष्टि ईश्वर के पितृ-हृदय के बहुत समीप हुआ करते हैं। इस तथ्य से मैं पूर्णतया सहमत हूँ। प्रकृति की सहज प्रेरणा से अभिप्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी जीवन से असीम प्यार करता एवं उसका भरपूर आनंद उठाता है। उनमें चिर-उत्साह का यही कारण है।

'एलन डिवाय' प्रकृति प्रेमी रहे हैं। उनका अधिकांश समय जीव-जंतुओं, पशु-पक्षियों के अध्ययन में ही बीता है। उन्होंने रहस्योद्घाटन किया है कि प्रकृति के इन नन्हें जीवों में चिरउत्साह का कारण है, उनकी प्रकृति प्रेरणा के अनुरूप क्रियाएँ। लिखते हैं कि मेरा अधिकांश समय पशुओं की जानकारी में बीता है। घनिष्ठ साथियों में खरगोश, गिनीपिग, सफेद चूहे, हिरण, रैकून्स, स्कंध, लोमड़ियाँ सदा मेरा मन बहलाते रहे तथा प्रेरणाएँ देते रहे हैं। मैंने ८० वर्ष से इन प्राणियों से इतना कुछ सीखा है जितना कि तत्वज्ञान की पुस्तकों में भी नहीं। वे कहते हैं कि जीव मूक रूप से कहते हैं कि 'प्रत्येक क्षण का आनंद लूटना सीखो'। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी अपने जीवन का भरपूर आनंद उठाता है। गोधूलि वेला में गिलहरिया नटों की भाँति हवाई कौशल प्रस्तुत करती हैं। उन्हें न तो रात के अंधकार का डर होता है न कल की चिंता। चौकड़ी भरता हिरन संपूर्ण पृथ्वी पर अपना

अधिकार जमाता है। हरी-भरी घास का आनंद लेते समय उसके मनोयोग को देखते ही बनता है।

एलन डिवाय लिखते हैं कि "एक बार मैंने एक बुढ़े हिरन को घास चरते देखा। इतने में एक सर्प उसकी नासिका के पास आ पहुँचा। उस समय उसकी सतर्कता परिवर्तित भाव मुद्रा देखते ही बनती थी। एक क्षण में ही आनंद के भाव तिरोहित हो गए और वह वीर रस के भाव में हुँकार भरने लगा। पैने खुरों से आवाज करते हुए उसने साँप को दबोचकर काम तमाम कर दिया। तुरंत बाद वह अपनी पूर्ववत् स्थिति में आ गया और इस प्रकार घास चरने का आनंद लेने लगा जैसे कोई घटना ही न हुई हो। इन जीवों के जीवन क्रम से मनुष्य प्रेरणा ले सकता है। सामान्य घटना एवं बातों से प्रभावित होकर अपना संतुलन खोने वाले, निराशा चिंता से घिर जाने वाले मनुष्य उद्विग्नता और चिंता से मुक्ति पालें, तो ८० वर्ष की आयु में भी वे हिरन की-सी कुलाचें भरते रह सकते हैं।"

प्रकृति की प्रेरणा है कि अनावश्यक चिंताएँ छोड़ो, ईश्वर प्रदत्त जीवन का सर्वोत्तम उपयोग करो। प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता का प्रत्येक कार्य में समावेश रखो। इस प्रेरणा के अनुरूप जीवन-क्रम अपनाकर पशु-पक्षी सदा प्रसन्न रहते तथा जीवन-पर्यंत यौवन का आनंद लेते हैं। कृत्रिमता से वे सदा दूर रहते हैं। समय पर उठना प्रकृति का अभिवादन करना, आहार जुटाना, एवं निश्चिंत होकर सोना ही उनके सदा स्वस्थ व चिरयुवा रहने का रहस्य है।

आकृति, सामर्थ्य एवं बुद्धि की दृष्टि से सबसे पिछड़ी चिड़ियों के फुदकने को देखकर लगता है जैसे प्रकृति ने संपूर्ण आनंद उनकी झोली में भर दिया हो। बच्चों को भोजन कहाँ से प्राप्त होगा। कल के लिए आहार की व्यवस्था क्या होगी, इसकी बिलकुल ही चिंता नहीं करतीं। बस सूर्योदय का अभिवंदन करके अपने काम में जुट जाती

हैं। जो आहार प्राप्त होता है उसे अपने बच्चों से मिल-बाँटकर खाती हैं। हाथी जैसे विशालकाय जीव को सर्वाधिक आहार की आवश्यकता होती है पर उसे थोड़ी भी चिंता नहीं रहती। भूख लगने पर वह घने जंगल में स्वच्छंद निकल पड़ता तथा हरी फूल-पत्तियों का आहार करता है। मनुष्य जैसे संग्रह की चिंता उसे नहीं सताती। फलतः वह सदा स्वस्थ रहता है। बिल्लियाँ, बकरियाँ, घोड़े, कबूतर यदा-कदा ही रुग्ण होते हैं। सूर्य देवता अपनी प्रातःकालीन स्वर्गीय आभा लिए उन्हें उछलने, मचलने के लिए जैसे बाध्य कर देते हों।

प्रकृति विज्ञानी एल डिवाय ने अपने जीवन की एक घटना का उल्लेख किया है किस प्रकार नन्हे पक्षी प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने के लिए जान की बाजी तक लगा देते हैं। वे लिखते हैं कि एक बार मैंने एक पुराने लकड़ी के पुल के नीचे एक पक्षी का घौंसला बना देखा। उसके अंडे देखने के लिए सावधानी से आगे बढ़ रहा था। एकाएक मादा पक्षी ने मेरी नाक से एक इंच दूर मेरी आँखों पर अपने पंखों से प्रहार किया। चौंककर सिर उठाया कि उतने में नर-पक्षी ने झपट्टा मारकर मेरा चश्मा गिरा दिया। इस अप्रत्याशित संधबद्ध आक्रमण से मैं घबड़ा उठा और पैर फिसल जाने के कारण कमर तक पानी में जा गिरा। किसी प्रकार उठकर वहाँ से भागा। मुझे उस घटना से प्रेरणा मिली कि आने वाली कठिनाइयों का जब नन्हे-नन्हे जंतु वीरों की तरह सामना कर जाते हैं तब छोटे-छोटे उतार-चढ़ावों से घबरा कर अपनी शक्ति मनुष्य नष्ट करे, उसका यह दुर्भाग्य ही है।

एक अन्य घटना का वर्णन करते हैं एक कठफोड़वा पक्षी उड़ता हुआ मेरे खेत में आया और किनारे रखे हुए एक बड़े पत्थर पर बैठ गया और कुछ ही क्षणों में शरीर को निश्चेष्ट छोड़कर मृत्यु की गोद में समा गया। अंतिम समय में भी उसे न किसी प्रकार का कष्ट था न ही मृत्यु का भय। मुझे उसकी शानदार मौत पर विशेष आश्चर्य हुआ।

मनुष्य से तुलना की तो मालूम हुआ कि रोते बिलखते कष्ट से कराहते मनुष्य की तुलना में जीवों की मृत्यु भी कितनी सरल एवं कष्टरहित होती है। निःसंदेह यह उनके स्वच्छंद, चिंता रहित प्राकृतिक रहन-सहन का ही प्रतिपादन है।

मनुष्य पशु-पक्षियों से बुद्धिमान है और सामर्थ्यवान् भी। प्रकृति के सर्वाधिक अनुदान उसे ही मिले हैं। नन्हे जीवों को तो सीमित सामर्थ्य प्राप्त है। अपने सीमित क्षेत्र में साधनों के सहारे असीम आनंद अनुभव करते हैं, किंतु मनुष्य के लिए इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात और क्या हो सकती है कि उसे जीवन का आनंद लेना नहीं आ सका। कारणों की खोज में जाते हैं तो एक ही तथ्य हाथ लगता है उसका चिंताओं, आशंकाओं, कृत्रिमताओं से भरा जीवन-क्रम।

प्राकृतिक दिनचर्या, प्रसन्नता प्रफुल्लता से युक्त जीवन-क्रम अपनाने वाले मनुष्यों में ही अधिकांशतः चिरयुवा बने रहे। ढलती उम्र में भी उनमें असाधारण उत्साह एवं उमंग देखी गई। चर्चिल वृद्धावस्था को सर्वोत्तम काल कहते थे। उनका कहना था, जवानी खिला हुआ फूल है तो बुढ़ापा पका हुआ फल-एक रंग का खजाना तो दूसरा रस का कलश। दोनों की अपनी सुवास है और अपना सौंदर्य। इस दृष्टिकोण के कारण ही उनमें ८० वर्ष की आयु में भी युवकों जैसी उमंग और बच्चों जैसी मस्ती थी। इंग्लैंड के शासकीय कार्यों में भी वे आयु की अंतिम अवधि में भी परामर्श देते रहें। महात्मा गाँधी ८० वर्ष की आयु में भी अपने को युवक मानते थे। उनकी फुर्ती देखते बनती थी। वृद्धावस्था में भी वर्नार्डशा की चुस्ती एवं फुर्ती देखकर उनके युवा होने का संदेह होने लगता था। उसका कारण था कि वे सक्रियता प्रसन्नता प्रफुल्लता एवं प्राकृतिक दिनचर्या बिताते थे।

एक जापानी संत का कथन है-बुढ़ापे की झुर्रियाँ, ईश्वर का दिया हुआ वरदान हैं। निश्चय ही प्रसन्नता मुख-मंडल पर सतत् बनी रही

तो वृद्धावस्था अभिशाप नहीं बन सकती। भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् ने चिरयौवन का रहस्य बताते हुए कहा है कि चिरयुवा बने रहने के लिए मनुष्य को हँसमुख स्वभाव को वास्तविक एवं गंभीर रूप में विकसित करना चाहिए। उन्होंने संयमित प्रकृति के अनुरूप आहार-विहार को चिरयौवन की कुंजी माना।

डॉ० मेलबिन कीथ अपनी पुस्तक "रायलरोडटू हेल्थ" में लिखते हैं कि अप्राकृतिक दिनचर्या के कारण मानव जाति दिन-प्रतिदिन शक्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से क्षीण होती जा रही है। जिसका प्रतिफल है असमय बुढ़ापा-अनेकानेक रोगों की उत्पत्ति। मनुष्य को प्रकृति के अन्य पशु-पक्षियों से प्रेरणा लेनी तथा अनुकरण करना चाहिए जो आयु के अंतिम समय में भी असीम उत्साह एवं उमंग से भरे रहते हैं। जबकि मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों से ग्रस्त हुआ रोते-कलपते जीवन के अंतिम दिन पूरे करता है।

अविकसित प्राणी जो मनुष्य से हर दृष्टि से छोटे हैं। उनके पास न तो रहने के मकान है न ही अन्य साधन। कल के लिए आहार की समस्या है। संचय के नाम पर कुछ भी नहीं है। ऐसी स्थिति में भी सदा स्वस्थ एवं प्रसन्नचित्त रहते हैं। वृद्धावस्था की असमर्थता का अभिशाप उन्हें नहीं लगने पाता। जबकि मनुष्य साधनों, योग्यता प्रतिभा की दृष्टि से सबसे आगे है। फिर भी रोग-क्लेशों का, असमर्थता का, बुढ़ापे का रोना उसे ही रोना पड़ता है। निस्संदेह यह अप्राकृतिक रहन-सहन अनावश्यक चिंताओं एवं आशंकाओं का ही दुष्परिणाम है। शारीरिक सक्रियता, मानसिक प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता बनी रहे तो कोई कारण नहीं है कि उसे चिर-यौवन के आनंद से भी वंचित रहना पड़े। इस तथ्य को समझा एवं अपनाया जा सके तो उसी प्रकार जीवन-पर्यंत स्वस्थ एवं प्रसन्न चित्त रहा जा सकता है, जिस प्रकार पशु-पक्षी। मनुष्य को श्रेष्ठतम जीवों में गिना जाता है। यहाँ तक

कि मानव को परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट कृति कहा गया है। उसे पंचतत्वों से निर्मित परमात्मा का निवास स्थान माना जाता है। इसीलिए इसे देव मंदिर भी कहा गया है। परमात्मा के निवास गृह देवरूपी मंदिर को पवित्रता, निर्मलता और शोभा-सुषमा-सौंदर्य से भरा रहना चाहिए। ईश्वर के इस दुर्लभ अनौखे एवं सुंदर देह रूपी उपहार की उपेक्षा-अवहेलना, तिरस्कार करके उसे रोगी, शक्तिहीन कुरुप बनाना महापाप अर्जित करना है। इसको सुंदर, स्वस्थ और रोगमुक्त रखना ही सर्वोपरि कर्तव्य है।

'शरीरमाद्यम् खलुधर्मसाधनम्' यह शरीर ही धर्मादि को प्राप्त करने का साधन है। कोई भी भौतिक अथवा आध्यात्मिक उपलब्धि बिना स्वस्थ एवं निरोग-सशक्त शरीर के संभव नहीं। इस संसार में जीवन का आधार यह शरीर ही है।

इस देव मंदिर देह की जब इतनी महत्ता शास्त्रों में प्रतिपादित की गई, तो प्रश्न उठता है कि इसे निरोग स्वस्थ एवं सशक्त कैसे रखा जाए ? यह तो सभी जानते हैं कि इस मानव-देह का निर्माण अवनि, अम्बु, अनल, अनिल और आकाश के पंचतत्वों से हुआ है। शरीर में यदि इन तत्वों का संतुलन साम्य बना रहे तो उसमें निरोगता एवं सशक्तता बनी रहती है और उनमें असंतुलन, विकृति अथवा कुपित हो जाने के कारण रोगों की उत्पत्ति हो जाती है। ये पंचतत्व प्राकृतिक है। इनके असंतुलन, न्यूनता, अधिकता से उत्पन्न रुग्णता, दुर्बलता आदि को प्रकृति के सामीप्य, सानिध्य में रहकर ही दूर किया जा सकता है। जीवन को भौतिक कृत्रिमता से अधिकाधिक दूर रखकर रोगमुक्त, शक्तियुक्त रखना, पंचतत्वों की साधना-प्राकृतिक जीवन से संभव है।

मनुष्य प्रकृति विरोधों का आचरण करके अपनी भूल, प्रमाद या अज्ञानवश रोगों को आमंत्रित कर लेता है और अपने इस पंचतत्व के

कलेवर का उपचार तीव्र एवं विषैली औषधियों के इंजेक्शनों या शल्य क्रिया से कराता है जिसके दूरगामी परिणाम हानिप्रद ही होते हैं। यद्यपि क्षणिक राहत इन उपायों से जान पड़ती है। कालांतर में अन्य जीर्ण-साध्य व्याधियाँ प्रकट हो जाती हैं जो शरीर का अंत करके ही छोड़ती हैं। प्रकृति माता बड़ी उदार है। जब भी मानव अपने को प्रकृति के आंचल में छोड़ पंचतत्वों का उपचार प्रारंभ करता है वह करुणामयी अपना बरदहस्त उसके सिर पर रखकर स्वास्थ्य, निरोगता एवं सशक्तता का अनुदान-वरदान देना प्रारंभ कर देती है। उसकी अनंत अनुकम्पा से मनुष्य देह-रूपी देव-मंदिर, रोगमुक्त, शक्तियुक्त हो जाता है। अस्तु अधिक से अधिक प्राकृतिक आहार-विहार के अनुरूप जीवनचर्या बनाकर, तदनुरूप पालन कर इस देह को स्वस्थ और सशक्त रखा जाए और देव-मंदिर की सार्थकता को पूर्ण किया जाए।

जहाँ तक मृत्यु का प्रश्न है, संसार का कोई प्राणी इससे बचा नहीं है। जिसने जन्म लिया है, उसे निश्चित रूप से मरना है। शास्त्रकारों ने मृत्यु को सुखद नींद और दिव्य-लोक कहा है। अथर्ववेद में कहा गया है-

"यह देवताओं का प्यारा लोक है। यहाँ पराजय का क्या काम ? तुम सोचते हो कि तुम मौत के प्रति संकल्पित किए हुए हो, बात ऐसी नहीं है, हम तुम्हें वापिस बुलाते, बुढ़ापे से पहले मरने की न सोचो।"

वस्तुतः मृत्यु से कोई बचा नहीं, वह तो अवश्यम्भावी है। जन्म-मृत्यु का चक्र निरंतर गतिशील है। जहाँ जन्म है, वहाँ मृत्यु भी एक दिन अवश्य होती है, परंतु मौत को उत्कृष्ट विचारों की शक्ति एवं सद्भाव संपन्न मनःस्थिति द्वारा आनंददायक अवश्य बनाया जा सकता है। उसे संघर्ष करते हुए आगे को टाला जा सकता है। वेदों में इस तथ्य का उद्घोष किया गया है-

वर्च प्रा नेहि मे तन्वांऽसह ओजोवयं ललम्।
इंद्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रतिगृहणाभि शतं शारदाय॥
(अ० १९।३७।२)

अर्थात्-"मेरे शरीर में शक्ति, ओज, पराक्रम, पौरुष सदा बना रहे। मैं सौ वर्षों तक अपनी समस्त इंद्रियों में कर्म करता हूँ।"

मानव-जीवन की सार्थकता इसी में है कि मनुष्य अपने जीवन-पर्यंत पूर्ण स्वस्थ, शक्तिवान् एवं वीर्यवान् बना रहे। आर्षग्रंथों में स्थान-स्थान पर दीर्घ जीवन के रहस्यों का उद्घाटन किया गया है।

"अनुहृत पुनरेति विदवानुदयनं पथः।
आरोहणमाक्रमणं जोवतो जीवतोऽयनम्।"
(अ० ५।३०।१७)

अर्थात्- "हे मनुष्यों ! तुम मृत्यु की ओर क्यों जा रहे हो ? मैं तुम्हें जीवन, उल्लास, यौवन,उत्साह की ओर बुला रहा हूँ, वापिस आओ।"

वस्तुतः उल्लास, स्फूर्ति, निरोगता ही यौवन है, वास्तविक आयु कुछ भी हो। उदासी, कायरता, निषेधात्मक मनःस्थिति, प्रमाद ही बुढ़ापा है।

आयु एवं स्वास्थ्य शरीर पर नहीं, मन पर निर्भर

यूनान के एक प्राचीन चिकित्सा शास्त्री और संत इब्नेसिया से किसी ने पूछा कि मृत्यु पर्यन्त युवा और स्वस्थ रहने के लिए हमें क्या करना चाहिए इब्नेसिया ने जो उत्तर दिया वह बहुत ही साधारण था। उन्होंने कहा-'आजीवन युवा और स्वस्थ रहने के लिए किसी कठिन या विशेष उपाय की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपनी भूलों को सुधार लें और भ्रांतियों से छुटकारा पा लें। क्या है वे भूलें, जो असमय ही बुढ़ापा ला देती हैं और क्या हैं वे भ्रांतियाँ

जो रोग, बीमारियों को निमंत्रण देती हैं ? इसका उत्तर भी साधारण-सा ही है कि मनुष्य अपने आहार-विहार और आचार-विचार को न जाने क्यों इतना बिगाड़ लेता है कि स्वास्थ्य संकट उत्पन्न हो जाता है ? वस्तुत: किसी को स्वस्थ रहने के लिए डॉक्टरों से सलाह लेने और मल्टी विटामिन, टॉनिकों के सेवन की आवश्यकता नहीं है, डॉक्टर की सलाह और औषधियों का सेवन तो तब आवश्यक है जब बीमार पड़ा जाए। प्रश्न उठता है कि बीमार हुआ ही क्यों जाए ? स्वस्थ रहना जब अपने हाथ की बात है तो बीमार होना भी अपनी ही इच्छा पर निर्भर है। चाहे तो स्वस्थ रहें, चाहें तो बीमार पड़ें।'

खानपान का असंयम, दिनचर्या की अनियमितता, श्रम-विश्राम का असंतुलन और कृत्रिम अप्राकृतिक जीवन ही वे कारण हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य को चौपट करते हैं। अन्यथा खानपान में सादगी और संयम रखा जाए, नियमित दिनचर्या बनाकर रहा जाए, पर्याप्त श्रम और पर्याप्त विश्राम किया जाए तो शरीर यंत्र के किसी कलपुर्जे को बिगड़ने-गड़बड़ाने की स्थिति ही नहीं आती और लंबे समय तक स्वस्थ, निरोग और शक्तिशाली रहा जा सकता है। कहा जा सकता है कि बुढ़ापा तो अनिवार्य है। वह तो आना ही है, उसे रोका नहीं जा सकता। वह कहावत पुरानी हो चली जिसमें कहा जाता था कि 'जवानी वह देखी जो जाकर के नहीं आती और बुढ़ापा वह देखा जो आकर के नहीं जाता' हाल ही में हुई वैज्ञानिक शोधों के निष्कर्ष को दृष्टिगत रखते हुए इस कहावत में यदि कोई संशोधन करना पड़े तो वह इस प्रकार होगा कि 'जवानी वह देखी जो आने पर भगा दी जाती, बुढ़ापा वह होता जो न आने पर बुलाया जाता।'

स्वास्थ्य विज्ञानियों ने पिछले दिनों जो शोध अनुसंधान किए हैं उनसे ये निष्कर्ष सामने आए हैं कि जवानी का उम्र से कोई विशेष संबंध नहीं है वह उस समय भी बनी रह सकती है जिसे हम आमतौर

पर वृद्धावस्था कहते हैं। जीवन की सभी अवस्थाएँ मनुष्य की आयु से कहीं किसी रूप में संबंधित है, तो उसकी धुरी चिंतन पर टिकी हुई है। यदि कम उम्र का व्यक्ति अपने आपको प्रौढ़ समझे और तदनुरूप उत्तरदायित्व ओढ़े तो वह प्रौढ़ों की भूमिका प्रस्तुत कर सकता है इसके विपरीत उपेक्षा और अवसाद के कारण जवानी भी बुढ़ापे में बदल सकती है। बुढ़ापे में भी जवान रहा जा सकता है यह मनुष्य के साहस, उत्साह, परिश्रम और मनोबल पर निर्भर है। ऐसे कई ऐतिहासिक उदाहरण मिल सकते हैं। जिन्होंने वृद्धावस्था में जवानों से अधिक स्फूर्ति दर्शायी और जीवन के सभी क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण काम किए। गोस्वामी तुलसीदास ने पचास वर्ष की आयु हो जाने के बाद रामचरित-मानस लिखना शुरू किया था। रवीन्द्रनाथ टैगोर ९० वर्ष की उम्र तक साहित्य लेखन का काम करते रहे थे। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार और संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान सातवलेकर पचपन वर्ष की आयु तक अध्यापकी करते रहे थे। रिटायर होने के बाद उन्होंने संस्कृत का अध्ययन आरंभ किया और जीवन के उत्तरार्ध में संस्कृत तथा संस्कृति की सेवा की, कि आज उन्हें इस देवभाषा के पुनरुद्धार-कर्त्ता के रूप में ही जाना जाता है।

सन् १९३२ में महात्मा गाँधी ने एक विदेशी पत्रकार द्वारा पूछे गए प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था कि 'मैं ६३ वर्ष का जरूर हो गया हूँ, पर मुझे कभी ख्याल ही नहीं आता कि मैं बूढ़ा हो गया हूँ, जिस आदमी को ऐसा लगेगा वह कैसे पाठशाला के एक विद्यार्थी की तरह उर्दू का अध्ययन करेगा और कैसे बंगला, तमिल, तेलुगु पढ़ने के सपने देखेगा ?' पं० जवाहर लाल नेहरू अस्सी वर्ष के करीब जा पहुँचे थे, पर उस उम्र में भी वे दौड़कर सीढ़ियाँ चढ़ते थे। भूतपूर्व प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई भी अस्सी के लगभग थे और वे जवानों के से स्फूर्तिवान् दिखाई देते थे और दो वर्ष पूर्व ही वे समुद्र में एक जहाज

से दूसरे जहाज पर रस्से के सहारे गए थे।

इतिहास में भी इस तरह के कई उदाहरण मिलते हैं जब लोगों ने जीवन के उत्तरार्द्ध में ही ऐसे काम किए जिनसे वे विश्व विख्यात हो गए। यूनानी नाटककार सोफोक्लीन ने ९० वर्ष की आयु में अपना प्रसिद्ध नाटक 'आडीपस' लिखा था। अंग्रेजी कवि मिल्टन ४३ वर्ष की आयु में अंधे हो गए थे। अंधे होने पर उन्होंने अपना सारा ध्यान साहित्य सृजन पर केन्द्रित किया और ५० वर्ष की आयु में 'पैराडाइज लास्ट' लिखा। जर्मन कवि गेटे ने ७० वर्ष की आयु में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'फास्ट' पूरा किया था। ९२ वर्ष का अमेरिकी दार्शनिक जानडेवी अपने क्षेत्र के अन्य सभी विद्वानों में अग्रणी था।

अंग्रेजी राजनीति का इतिहास जिनने पढ़ा होगा वे जानते होंगे कि ग्लेडस्टन ७९ वर्ष की आयु में तीसरी बार प्रधानमंत्री बना था और ८४ वर्ष की आयु में उन्होंने 'ओडेसी आफ हॉरर' नामक ग्रंथ की रचना की। आठवीं जर्मन सेना का सेनापतित्व जब 'पाल्वान हिण्डैन वर्ग' को सौंपा गया तो वे ६७ वर्ष के थे। ७८ वर्ष की आयु में वह पार्लियामेंट के अध्यक्ष चुने गए और ८७ वर्ष की आयु तक इसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। हैनरी फिलिनिम पिटैन जब फ्रांस के प्रधानमंत्री बनाए गए तब उनकी आयु ८४ वर्ष की थी। लायड जार्ज ब्रिटेन के मूर्धन्य राजनेता रहे हैं, ८५ वर्ष की आयु में भी उनमें युवकों जैसी स्फूर्ति और काम करने की शक्ति थी। चर्चिल ने दूसरे विश्वयुद्ध के समय जब इंग्लैंड का प्रधानमंत्री पद संभाला तो वे ८० वर्ष के थे। जनरल मेक आर्थर ९० वर्ष की आयु में भी ४५ वर्ष की आयु वाले व्यक्तियों के समान सक्रिय रहे। दक्षिण कोरिया के राष्ट्रपति सिगमन ८० वर्ष की आयु में पूरी तरह सक्रिय रहे।

अमेरिका के प्रख्यात उद्योगपति राकफैलर ने पूरी १०० वर्ष की आयु पाई और उन्हें कभी बेकार समय गुजारते नहीं देखा गया। एक-

दूसरे व्यवसायी कोमोडोर बिण्डरविट ने ७० वर्ष की आयु में व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया और ९० वर्ष की आयु में उनकी गणना संसार के प्रसिद्ध उद्योगपतियों में की जाने लगी। मोटर उत्पादक हैनरी फोर्ड ८२ वर्ष की आयु में भी युवकों के समान चुस्त और क्रियाशील रहते थे।

महान साहित्यकार जार्ज बर्नार्डशा ने ९० से ९३ वर्ष की आयु के बीच इतना अधिक साहित्य लिखा जितना कि वे ५० से ९० की आयु के बीच नहीं लिख पाए थे। दार्शनिक वेनेदित्तो क्रोचे ८० वर्ष की अवस्था में भी नियमित रूप से १० घण्टे काम करते थे। उन्होंने दो पुस्तकें तो ८५ वर्ष की अवस्था में ही लिखीं। नोबुल पुरस्कार विजेता साहित्यकार मारिल मैटरलिक ने ८८ वर्ष की आयु में 'द एवाट आफ सेटुवाल' नामक पुस्तक लिखी जिसे उनकी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। ब्रिटेन के प्रसिद्ध समाचार पत्र 'डेली एक्सप्रेस' के संचालक लार्डबीवन वर्क ८० वर्ष की आयु में भी दस घंटे नियमित रूप से अपने दफ्तर में बैठकर काम करते थे।

टैनीसन ने ५८ वर्ष की आयु में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'क्रासिंग द वार' पूरा किया। दार्शनिक काण्ट ने ७४ वर्ष की आयु में ख्याति अर्जित की और 'एन्थ्रोपोलॉजी' 'मेटाफिजिक्स आफ ईथिक्स' और 'स्ट्राइफ आफ फैकल्टिज' नामक पुस्तकें लिखीं जो दर्शन की उच्च कक्षाओं में पढ़ाई जाती हैं। होब्स ने ८८ वर्ष की आयु में 'इलियड' का अनुवाद प्रकाशित कराया था चित्रकार टीटान का विश्वविख्यात चित्र 'बैटिल आफ लिटाण्टो' जब पूरा हुआ था तब उनकी आयु ८८ वर्ष की थी।

अमेरिका की सुप्रसिद्ध फिल्म अभिनेत्री 'दादी रेनाल्ड' ने पश्चिमी जगत में बहुत ख्याति अर्जित की। ६५ वर्ष की आयु में जब वे चार बच्चों की माँ और दर्जनों नाती-पोतों की दादी बन चुकी थीं तब शिक्षा प्राप्त करने की सूझी और कॉलेज जाने लगीं। ६९ वर्ष की

आयु में वे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय से स्नातिका हुईं। इसके बाद वे हालीबुड पहुँचीं। उनकी रुचि, लगन और मधुर व्यवहार देखकर फिल्म डायरेक्टर ने उन्हें एक छोटा-रोल दे दिया। इस भूमिका को उन्होंने इतनी कुशलता के साथ निभाया कि बाद में उनके सामने फिल्मों के ढेर लग गए और वे लगातार १३ वर्ष तक फिल्मों में काम करती रहीं।

कहा जा चुका है कि यौवन का आयु से कोई संबंध नहीं है वह वृद्धावस्था में भी बना रह सकता है और छोटी आयु में भी विकसित हो सकता है। बुढ़ापे में भी जवान रहा जा सकता है। लोग वृद्धावस्था में युवकों की-सी स्फूर्ति तथा कुशलता के साथ काम करते रहे हैं इसके कुछ उदाहरण ऊपर दिए गए हैं, इसी प्रकार कम आयु में भी परिष्कृत और विकसित व्यक्तित्व का परिचय देने वालों की कमी नहीं है। आद्यशंकराचार्य ने ३२ वर्ष की आयु में ही इतना साहित्य रच डाला था कि उसे पढ़ने और समझने के लिए कई जीवन चाहिए। इतना ही नहीं, उन्होंने चारों धामों की स्थापना की, देशभर में घूम-घूमकर पंडितों से शास्त्रार्थ किया। १६ वर्ष की आयु से लेकर ३२ वर्ष की आयु तक के सोलह वर्ष यदि लगन के साथ किसी दिशा में जुटा दिए जाएँ तो हर किसी के लिए उतना कुछ कर सकना संभव है जितना कि आद्यशंकराचार्य ने कर दिखाया।

वायुयान के आविष्कारक बिल्वट राइट और आनविल राइट बीस और तीस वर्ष के ही थे जबकि वे वायुयान उड़ाने का परीक्षण करने लगे थे और कुछ ही वर्षों में उन्होंने हवाई उड़ान भरकर संसार को आश्चर्यचकित कर दिया था। ब्लेज पास्कल ने ज्योमिति पर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक १९ वर्ष की अवस्था में लिखी और उसी आयु में गणना यंत्र एटिन मशीन का आविष्कार कर लिया। वैज्ञानिक क्षेत्र में कितनी ही प्रतिभाएँ ऐसी हुईं जिन्होंने छोटी आयु में आविष्कार किए।

एलीब्हिरची ने २८ वर्ष की आयु में कपास ओटने की मशीन का आविष्कार किया। चार्ल्स मार्टिन हाल ने २३ वर्ष की आयु में विद्युत संश्लेषण द्वारा अल्युमिनियम उत्पादन की नई विधि पेटेंट कराई।

इन बाल प्रतिभाओं के संबंध में यह भी कहा जा सकता है कि ये विलक्षण विभूतियों से संपन्न रही होंगी। पूर्व जन्म के संस्कार उनके इस जन्म में छोटी अवस्था में ही उत्पन्न हो गए होंगे। किंतु इससे यौवन की अवस्था का कोई संबंध नहीं होता। पूर्व जन्म के संस्कार स्वरूप ही सही इस जन्म में बचपन में ही प्रतिभा के अंकुर तो फूटे। फिर भी इस विषय को यहीं छोड़ दिया जाए तो उन लोगों को क्या कहेंगे जो वृद्धावस्था में भी जवानों से अधिक स्फूर्तिवान रहे हैं और स्वस्थ, चुस्त ढंग से सक्रिय जीवन व्यतीत करते रहे हैं। वस्तुतः युवावस्था का आयु से उतना संबंध नहीं है जितना कि मनोभूमि और चित्त की दशा से। ब्रिटेन के सुप्रसिद्ध साहित्यकार और राजनेता वेंजामिन डिजरायली यौवन का संबंध मन की अवस्था से बताते हुए कहा करते थे कि जिनने जवानी गँवा दी उनके पास कुछ और बचा ही नहीं। उनका अभिप्राय था कि महत्वपूर्ण कार्य करने का उत्साह, क्रियाशीलता, जोश, उमंग, स्फूर्ति और लगन का नाम ही यौवन है और यह यौवन स्वस्थ शरीर के भीतर विद्यमान स्वस्थ मन में निवास करता है।

इस संदर्भ में यूनान के प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक इब्नेसिया का कथन है कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए विचारों को स्वस्थ रखना आवश्यक है। स्वास्थ्य रक्षा के सभी आवश्यक साधन निबाहते रहने पर भी यदि विचार शुद्ध नहीं है, मन निर्मल नहीं है तो स्वास्थ्य प्राप्ति का उद्देश्य कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता। शारीरिक तथा मानसिक दोनों ही प्रकार के स्वास्थ्यों पर आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ता है। अस्तु अपने आचार-विचार को ठीक रखते हुए, मन में उत्साह और उमंग रखकर स्फूर्ति, आशा तथा उत्साह को ही जीवन

धन बनाया जाए तो चिरयौवन की प्राप्ति कोई असंभव बात नहीं। वह तो एक मन:स्थिति का नाम है, जिसे तैयार करने के लिए आचार-विचार से लेकर रहन-सहन तक सर्वांगपूर्ण साधना करनी पड़ती है।

मन:स्थिति संभालिए-आयुष्य का आनंद लीजिए

वृद्धावस्था जिसे कभी परिपक्व आनंद, प्रगाढ़-ज्ञान, अनुभव कोष, और मानवी गरिमा का पर्याय माना जाता था, आज की परिस्थितियों में सर्वत्र भार प्रतीत होती दीखती है, तो परमात्मा के विधान में कहीं कोई भूल हुई जान पड़ती है। अधिकांश लोग इस अवस्था में दु:खी खीझते दिखाई देते हैं, वे इस स्थिति का दोष या तो अपने भाग्य और भगवान को देते हैं या फिर आज के समाज को कोसने में संतोष मानते हैं। किंतु तथ्य ठीक इसके विपरीत है वृद्धावस्था के क्षोभ का कारण वह स्वयं ही है। सच तो यह है कि चिंतन की विकृति के कारण वह असामयिक वृद्धावस्था का कारण स्वत: ओढ़ लेता है।

फ्रेंक एण्ड वैगनाल्स कंपनी द्वारा एक पुस्तक प्रकाशित हुई-स्टेइंग यंग वियोंड योर ड्यर्स लेखक है-डॉ० एच० डब्ल्यू० हैगर्ड। इस पुस्तक में लेखक ने कहा है कि काहिली वृद्धावस्था की जननी है। एक जर्मन चिकित्सक क्रिस्टोफ विलहेल्स ह्यूफलैंड ने अपनी पुस्तक 'मेक्रोविओटिया' नामक पुस्तक में लिखा है कि हमारी भावनात्मक आदतें ही हममें बुढ़ापा ला देती हैं। यदि हम निराश, उदास, चिंताग्रस्त मनोवृत्ति के हैं तो वृद्धावस्था शीघ्र आना सुनिश्चित है। वे कहते हैं कि चिर युवा बने रहने का सूत्र-प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता है।

हाइजिया नामक पत्रिका में डॉ० ए० सी० आढ़ती ने डॉ० रेमाण्ड पर्ल द्वारा किए पर्यवेक्षण निष्कर्ष का उल्लेख किया है। डॉ० रेमाण्ड ने ५००० व्यक्तियों का अध्ययन किया जो ९० वर्ष की आयु से ऊपर

थे। अध्ययन का निष्कर्ष यह निकला कि एक विशेषता सबके साथ जुड़ी थी-निश्चिंतता का जीवनक्रम। आशावादी दृष्टिकोण प्रसन्नता एवं प्रफुल्लता से परिपूर्ण मनोभूमि।

वृद्धावस्था का कारण बताते हुए 'गैलेट बर्गेस' लुक एलेविन ड्यर्स यंगर नामक पुस्तक में लिखते हैं कि एकाकी एवं एकांत प्रिय मनोवृत्ति चिंता एवं निराशा का कारण बनती है। यह प्रवृत्ति इस बात का परिचायक है कि वृद्धावस्था शीघ्र आने वाली है। उदासी, खिन्नता, निराशा के रहते कोई भी शक्ति संपन्न बने रहने का प्रयत्न कारगर सिद्ध नहीं हो सकता। अधिक दिनों तक जीना हो, चिरयौवन की आकांक्षा हो तो लोगों में घुलना मिलना सीखिए। सदा प्रसन्न रहिए और प्रत्येक छोटे बड़े कार्य में रुचि लीजिए।

'लिविंग' नामक पत्रिका में 'ऐण्ड्रूज एलन' नामक विद्वान ने वृद्धावस्था न आने देने की ६ सूत्रीय योजना प्रकाशित कराई थी जो हर व्यक्ति के मनोबल को ऊँचा बनाए रखने, चिरयौवन का आनंद लेने की कुञ्जी है। वे सूत्र इस प्रकार हैं-

(१) भूतकाल की कल्पनाओं में अपना समय निरर्थक न गंवाइए, यौवन के दिन जीवन में अग्रसर होने के लिए संघर्ष के थे। और अनिश्चितता को आमंत्रित करना विवेक सम्मत नहीं है। संघर्ष की उस अवस्था को अब आप पार कर चुके हैं। आनंद अतीत नहीं है, वर्तमान है और वर्तमान अपनी झोली में आनंद का भंडार लिए सामने खड़ा है। देर बस आमंत्रण के स्वीकार करने की है।

(२) अतीत की अपनी असफलताओं पर क्षोभ मत प्रकट कीजिए। उनसे प्रेरणा लीजिए और वर्तमान का अधिक कुशलता से उपयोग कीजिए। ईश्वर को धन्यवाद दीजिए जिसके सहारे जीवन के पूर्वार्द्ध के संघर्षों को पार कर लिया। अब तो केवल जीवन का आनंद लेना आपके लिए अवशेष है। चिंता छोड़िए और प्रकृति के अक्षय

आनंद भंडार को अपनी बाहों में समेट कर सदा प्रसन्न रहें।

(३) यदि आप कुछ अधिक उम्र के दिखलाई पड़ते हैं तो उसकी किंचित चिंता करने की आवश्यकता नहीं है। अतीत के संघर्ष के कारण चेहरे पर जो झुर्रियाँ उभर आई हैं वे प्रौढ़ परिपक्वता की द्योतक हैं जिन्हें देखकर लोग सम्मान देते हैं। उसे परिपक्वता का चिह्न मानकर गर्व अनुभव करना तथा अनुभवों का लाभ दूसरों को देना ही इस आयु का वास्तविक सदुपयोग है।

(४) अधेड़ आयु में ही लम्बी-चौड़ी अनेक योजनाएँ बनाने से व्यक्ति और भी संकट में पड़ जाता है, कई कार्यों में हाथ डालने की अपेक्षा अपनी सामर्थ्य एवं स्थिति के अनुरूप एक कार्य में मनोयोग लगाना अधिक उपयुक्त है। अनावश्यक भाग-दौड़ एवं चिंता से थकान आती और बुढ़ापे का प्रभाव दिखलाई पड़ने लगता है। काम करें पर अपनी सामर्थ्य के अनुरूप और साथ ही विश्राम की उपेक्षा भी न करें।

(५) कभी यह न सोचें कि हमारी क्षमता की 'इतिश्री' यहीं तक है। नवीन स्फूर्ति के लिए नई दिशाओं की तलाश करें और नए काम सीखने में मन लगाएँ। नई नई खोजें आपको आनंद देंगी।

(६) भविष्य की अनावश्यक चिंता उचित नहीं। कभी यह न सोचें कि संसार हमें इसलिए छोड़ देगा कि हमारी शक्ति क्षीण हो चुकी है। यह सोचना निराशा को जन्म देगा। वास्तविकता यह है संसार को अनुभवशीलों के मार्ग-दर्शन की विशेष आवश्यकता है। आयु ने आपको छः अनुभवों की पूँजी दी है। इसका सदुपयोग करने में कभी पीछे न हटें। आत्म-विश्वास सदा बनाए रखें।

योग्यता, प्रतिभा एवं अनुभवों की दृष्टि से आयु का उत्तरार्द्ध पक्ष सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है, पर देखा जाए तो अधिकांश की आयु का यह पक्ष यों ही बेकार चला जाता है कारण स्पष्ट है अनावश्यक चिंताओं एवं आशंकाओं के कारण असमय बुढ़ापा हावी हो जाता है।

यह सच है कि अवस्था के अनुरूप शारीरिक चिह्न प्रकट होते हैं। बालों का पकना, आँखों से कम दिखाई देना, कानों से कम सुनाई देना जैसे चिह्न असमर्थता के नहीं आयु के अनुरूप परिवर्तन के लक्षण हैं। जिनको एक सीमा तक ही रोका जा सकता है, पर इनको ही बुढ़ापे का, असमर्थता का लक्षण मान लेना भारी भूल है। संसार के परदे पर सैकड़ों व्यक्ति हुए हैं जो जीवन पर्यंत युवा उमंगों से भरपूर बने रहे। आयु के अनुरूप शारीरिक परिवर्तन तो उनमें भी दिखाई पड़े, किंतु इन लक्षणों को उन्होंने अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। हर क्षण का उसी उत्साह एवं उमंग के साथ उपयोग किया जितना कि युवावस्था में ।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में यह मान्यता जोर पकड़ती जा रही है, यौवन का संबंध आयु से नहीं, मनःस्थिति से हैं। वह संतुलित प्रसन्नचित बनी रहे तो मनुष्य सदा बुढ़ापे से बचा रह सकता है। गांधीजी ८० वर्ष की आयु में भी अपने को युवक मानते थे। इस अवस्था में भी उनकी स्फूर्ति देखते बनती थी। इसका रहस्योद्‌घाटन करते हुए उन्होंने एक बार कहा-मैंने कभी भी परिस्थितियों को अपने ऊपर हावी नहीं होने दिया। अपने समय के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करना एवं अनावश्यक चिंताओं से मन को विमुक्त रखना ही मेरे चिरयौवन का रहस्य है। 'चर्चिल' बुढ़ापे को एक गाली मानते थे, उनका यही कहना था-कि "वृद्धावस्था पके हुए फल के समान है, जिसमें मिठास अधिक है। इस आयु में मनुष्य समाज के लिए सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है।" जार्ज वर्नार्डशा का कहना है कि 'प्रकृति का वास्तविक आनंद जीवन के उत्तरार्द्ध में ही उठाया जा सकता है। भूत के अनुभवों से प्रेरणा लेकर मनुष्य संसार का आनंद लेते हुए समाज के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकता है" वे कहते हैं कि बुढ़ापे को मैं जीवन का अभिशाप मानता हूँ।"

मनःस्थिति निराशा एवं आशंकाओं से ग्रस्त हो तो असमय ही वृद्धावस्था के चिह्न प्रकट होने लगते हैं और मनुष्य अपने को असमर्थ, असहाय अनुभव करने लगता है। इस स्थिति से बचने के लिए शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुरूप सतत् रचनात्मक कार्यों में संलग्न रहना श्रेयस्कर है। सत्कार्यों में निरत रहने पर आत्म-संतोष की अनुभूति होती है, जो स्वयं जीवन को और भी अधिक श्रेष्ठता से जीने की प्रेरणा देती रहती है।

ये भ्रांति पूर्ण मान्यताएँ मिटेंगी तो ही शरीर स्वस्थ होगा

भ्रांतियाँ हर दृष्टि से हानिकारक सिद्ध होती हैं, चाहे वे किसी भी क्षेत्र की क्यों न हों। मान्यताओं एवं विश्वासों के रूप में कितनी ही बातें ऐसी हैं जो मनुष्य के चिंतन एवं स्वभाव का अंग बनी हुई हैं। तथ्यों के आधार पर समीक्षा करने पर जिनकी न तो उपयोगिता जान पड़ती है और नहीं महत्ता, पर लंबे समय से मन-मस्तिष्क में उपयोगी होने जैसी मान्यता के रूप में बने रहने के कारण वे स्वभाव का अनिवार्य अंग-सा बन गई हैं, जिन्हें न निकालते बनता है और न ही छोड़ते।

भ्रांतियों में एक है-खानपान संबंधी, जिसका मनुष्य के स्वास्थ्य से सीधा संबंध है। सदियों से यह मान्यता चली आ रही है कि मनुष्य शरीर को स्वस्थ बनाए रखने के लिए नमक आवश्यक है। पोषक आहारों के समान ही इसे भी भोजन का अनिवार्य एवं उपयोगी तत्व माना गया। जबकि तथ्य इसके विपरीत है। नवीन वैज्ञानिक शोधों से यह सिद्ध हुआ है कि 'नमक' शरीर के लिए अनुपयोगी ही नहीं हानिकारक भी है। इसे साधारणतः धीमे विष की संज्ञा दी गई है तथा स्वास्थ्य संबर्धन में एक अवरोधक तत्व माना गया है।

पिछले दिनों मोनेक्को के मांटे कार्लो नामक स्थान में चिकित्सा विशषज्ञों की एक गोष्ठी हुई। विषय था मनुष्य के गिरते हुए स्वास्थ्य का स्थाई उपचार ढूँढ़ना तथा उन कारणों का पता लगाना जो आरोग्य के लिए घातक है। गोष्ठी के उपरांत विशेषज्ञों ने जो निष्कर्ष निकाले वे महत्त्वपूर्ण हैं। सबने एक स्वर से स्वीकार किया कि कृत्रिम नमक हर दृष्टि से स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। खाद्य पदार्थों में प्राकृतिक रूप से मौजूद नमक ही मनुष्य शरीर के लिए अनुकूल है। शरीर को जितने नमक की आवश्यकता है उतने की व्यवस्था प्रकृति ने खाद्य-पदार्थों, साग-सब्जियों एवं फलों के रूप में प्रचुर मात्रा में कर दी है। जिह्वा के स्वाद की आपूर्ति के अतिरिक्त ऐसा कोई औचित्य नजर नहीं आता जिसके लिए अलग से कृत्रिम नमक ग्रहण किया जाए। गोष्ठी की प्रकाशित रिपोर्ट में यह कहा गया कि नमक का शरीर के रक्त चाप से गहरा संबंध है। निम्न और उच्च रक्त चाप जैसे रोगों को बढ़ावा देने में नमक की असाधारण भूमिका है। प्राकृतिक खाद्य स्रोतों में भी उन वस्तुओं को अधिक पौष्टिक शरीर के लिए लाभ कर माना गया जिनमें नमक की मात्रा सबसे कम हो। इस दृष्टि से माँ के दूध को वैज्ञानिकों ने सर्वोच्च ठहराया। शाक-सब्जियों और माँस-मछलियों में किसमें नमक की मात्रा अधिक है, इस आधार पर माँस, मछली-अण्डे में नमक की मात्रा अधिक होने के कारण इन्हें शरीर के लिए अनुपयुक्त एवं हानिकारक बताया गया है।

संक्रामक रोगों की तरह रक्त चाप की बीमारी भी बढ़ती जा रही है। विकसित और संपन्न राष्ट्रों में तो सर्वाधिक संख्या रक्तचाप से पीड़ित रोगियों की है। चिकित्सा विज्ञान की शोधों ने इस तथ्य की पुष्टि की है कि कृत्रिम नमक रक्तचाप रोगों का एक प्रधान कारण है। सर्वविदित है कि उच्च रक्तचाप के चिकित्सक भोजन में रोगी को नमक का निषेध कर देते हैं। निदान में इससे विशेष योगदान मिलता है। प्रकारांतर से

यह इस बात का संकेत देता है कि यदि आरंभ से ही कृत्रिम नमक को ग्रहण करने से बचा जाए तो भविष्य में रक्तचाप जैसे रोग की संभावना नहीं होगी।

पिछड़े, जंगली एवं आदिवासी क्षेत्रों के पर्यवेक्षण से यह ज्ञात हुआ है कि उनमें कितनी ही जातियाँ ऐसी हैं जो आधुनिक सभ्यता से सर्वथा दूर हैं। उनके खान-पान में नमक का बिल्कुल ही स्थान नहीं है। फलतः वे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी सबसे आगे हैं। पख्तूनों व अफगानी कबाइलियों का रहन-सहन अब भी आदिम युग जैसा है। वे प्राकृतिक खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त नमक का सेवन नहीं करते।

भोजन संबंधी दूसरी भ्रांति है-खाद्य पदार्थों की पौष्टिकता के संबंध में। मान्यता यह है कि जिन खाद्यान्नों में प्रोटीन की, वसा की, मात्रा जितनी अधिक हो, उसका ही अधिकाधिक सेवन करने से शरीर की सुरक्षा एवं स्वास्थ्य संवर्धन का उद्देश्य पूरा किया जा सकता है। नवीन तथ्य यह उभर कर सामने आया है कि खाद्यान्नों का स्वास्थ्य संवर्धन का गुण इस बात पर नहीं आधारित है कि उनमें ''कैलोरी'' की प्रोटीन की कितनी मात्रा विद्यमान है वरन् इस पर अवलंबित है कि वह कितना शीघ्र पच जाता है और वह जीव प्रकृति के कितना अनुकूल है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद दिल्ली में डॉ० आर० एन० चक्रवर्ती की देख-रेख में बंदरों पर प्रयोग किया गया। विषय था, हृदय रोगों एवं रक्तचाप के कारणों का अध्ययन करना। प्रयोग की अवधि में बंदरों को अधिक प्रोटीन एवं वसायुक्त भोजन दिया गया जो उनके पाचन संस्थान की प्रकृति के प्रतिकूल था। फलतः कुछ दिनों बाद बंदरों की 'महाधमनी' तथा 'कोरोनरी धमनी' में वसा का जमाव होने लगा तथा वे हृदय रोग से पीड़ित हो गए। जब पुनः उन्हें उनकी प्रकृति के अनुकूल कम कैलोरी युक्त भोजन दिया गया तो हृदय की धमनियों को ठीक होने में सहयोग मिला। डॉ० चक्रवर्ती के ही निर्देशन

में चण्डीगढ़ में भी इसी प्रकार के प्रयोग हुए। १२४ बंदरों की परीक्षा की गई। अनुसंधान दल ने कुछ बंदरों को एक वर्ष तक अधिक वसायुक्त भोजन पर रखा। फलस्वरूप उन्हें दिल के दौरे पड़ने लगे। कई में उक्त रक्तचाप का अवलोकन किया गया। कितने ही बंदर 'थ्रोम्बोसिस' (रक्त का थक्क जम जाना) रोग से ग्रसित पाए गए।

माँसाहार में दलील यह दी जाती है कि उसमें प्रोटीन की- 'कैलोरी' की मात्रा अधिक होती है। उपरोक्त प्रयोग इस बात की पुष्टि करते हैं कि प्रोटीन अथवा अधिक कैलोरीयुक्त भोजन का स्वास्थ्य से कोई संबंध नहीं है। शरीर की प्रकृति के अनुकूल, खाद्यान्न ही स्वास्थ्य संवर्धन में सहायक सिद्ध होते हैं। मनुष्य का पाचन संस्थान मांसाहार के सर्वथा प्रतिकूल है। मांसाहारी जीवों के दाँतों एवं आँतों की बनावट भी अलग ढंग की होती है जिनकी मनुष्य शरीर एवं प्रकृति के साथ थोड़ी भी समता नहीं है। मांस मछली अण्डे में विद्यमान गरिष्ठ प्रोटीन, वसा की मात्रा को पचा सकने में मानवी पाचन संस्थान असमर्थ है। बढ़ते हुए हृदय रोगों का एक और कारण है-मनुष्य का अपने सहज स्वाभाविक सुपाच्य शाकाहार प्रवृत्ति से अलग हटकर मांसाहार का सेवन करना।

प्रकृति के सान्निध्य में रहने वाले नन्हे जीव-जन्तु उछलते-कूदते एवं मचलते रहते हैं। सदा स्वस्थ एवं निरोग बने रहते हैं। वे यदा-कदा ही बीमार पड़ते हैं। पड़ते भी हैं तो संयम आदि द्वारा स्वतः ही अपने को ठीक कर लेते हैं। उन्हें हृदय रोग शायद ही कभी होता हो। नमक जिसे मनुष्य आवश्यक मानता है, वे अलग से कभी नहीं लेते। प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं में विद्यमान नमक ही उनके स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रखता है। एक मनुष्य ही है जो स्वाद के नाम पर तरह-तरह के बहाने बनाता है। कभी स्वास्थ्य रक्षा का आवश्यक तत्व मानकर नमक का सेवन करता है तो कभी प्रोटीन एवं अधिक कैलोरी के नाम

पर अभक्ष्य मांस को ठूँसकर पेट को कब्र बनाता है। फलत: अनेकानेक बीमारियों से भी वही ग्रसित होता है। जबकि बुद्धि एवं साधनों की दृष्टि से असमर्थ मनुष्येत्तर जीव स्वस्थ बने रहते और हँसते-फुदकते हुए जीवन का वास्तविक आनंद उठाते हैं।

खानपान की इस भ्रांति को मन और मस्तिष्क से हटाया जाना आवश्यक है। शरीर के लिए नमक न तो आवश्यक है और न ही उपयोगी। स्वाद एवं अभ्यास का अंग बन जाने के कारण इसके बिना काम नहीं चलता अन्यथा पोषण की दृष्टि से उसमें ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिनके बिना काम न चले। जितनी थोड़ी आवश्यकता है भी, वह प्राकृतिक स्रोतों में संतुलित रूप से घुला-मिला है और शरीर रक्षा का उद्देश्य पूरा करता है। इसके लिए अलग से नमक लेने की कोई आवश्यकता नहीं है। आहार में इस मान्यता को भी बदलना होगा कि अधिक प्रोटीन युक्त भोजन शरीर के लिए लाभकारी है। स्वास्थ्य पौष्टिक तत्वों पर नहीं इस बात पर अवलंबित है कि भोजन में ग्रहण किए जाने वाले पदार्थ कितने शीघ्र एवं सुविधा से पच जाते हैं। इस दृष्टि से शाक-सब्जियों को हरे एवं ताजे फलों को सर्वोपरि ठहराया गया है। इन तथ्यों से प्रभावित होकर अब पाश्चात्य जगत में भी शाकाहार का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। वहाँ के नागरिक माँसाहार की हानियों को समझने लगे हैं। इंग्लैंड में तो एक 'वेजीटेरियन सोसायटी की स्थापना हुई है जो प्रचार द्वारा लोगों को प्रकृति प्रदत्त सुविधा से उपलब्ध होने वाले सुपाच्य खाद्यान्नों, शाकों एवं फलों की महत्ता बताती तथा मांसाहार की हानियों से अवगत कराती है। इस प्रयास का आशातीत प्रभाव पड़ा है। हजारों व्यक्तियों ने मांसाहार छोड़ा व शाकाहार को अपनाया है। वहाँ इसे स्वास्थ्य क्रांति के रूप में मान्यता मिली है।'

बर्नार्ड शा मामूली जुकाम से ग्रस्त थे। औषधियों से परहेज रखने

वाले उस मनीषी को जब बिस्तर पकड़ना पड़ा तो एक चिकित्सक को बड़े आग्रह के बाद दिखाने के लिए वे राजी हो गए। शा दुमंजिले पर रहते थे। डॉक्टर थे मोटे ऊपर पहुँचते-पहुँचते उनकी साँस फूल गई। शा ने उन्हें बिठाकर कहा-डाक्टर! तुम माँस मत खाया करो। देखो, छोटा सा जीना चढ़ने में साँस फूल गई। डाक्टर ने पलट कर जबाव दिया-"आप तो शाकाहारी हैं, फिर बीमार क्यों हो गए।" शा बोले- मैं और बीमार ? इतना कहकर वे उठे व उन्होंने रेडियो खोल दिया। वाद्य यंत्र से मधुर स्वर लहरियाँ गूँजने लगी। वे तन्मय होकर नाचने लगे। बीमारी भूलकर वे ऐसे मग्न हुए कि पसीना-पसीना हो गए पर रुके नहीं। गीत समाप्त हुआ और शा का नृत्य भी। शा बोले-डाक्टर ! मान गए न कि शाकाहार की शक्ति अधिक है। अब लाओ मेरी फीस के ५ शिलिंग। और हाँ अब मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, मुझे अब औषधि की आवश्यकता नहीं। सचमुच वे तब तक निरोग भी हो चुके थे।

वस्तुतः शाकाहार का महत्व अवर्णनीय है, पर माँसाहार के दुष्प्रचार ने कुछ ऐसी विकृत मान्यताएँ बना दी हैं कि बहुसंख्य जनता पुष्टाई के नाम पर अब माँस भक्षण का समर्थन करने लगी है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रोटीन को भोजन का उपयोगी अंग माना जाता है। इन दिनों उसकी पूर्ति के लिए माँस का प्रयोग चल पड़ा है। परंतु परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि दालों में माँस की अपेक्षा अधिक मात्रा में प्रोटीन होता है और अपेक्षाकृत सुपाच्य भी अधिक है। प्रोटीन की उपस्थिति विभिन्न पदार्थों में कम या अधिक पाई जाती है। अंडे में तेरह प्रतिशत, मछली में वाईस प्रतिशत, माँस में अठारह प्रतिशत, मूँग की दाल में चौबीस प्रतिशत, मसूर की दाल में पच्चीस प्रतिशत, उर्द की दाल में चौबीस प्रतिशत, मूँगफली में इकतीस प्रतिशत तथा सोयाबीन में तैतालीस प्रतिशत प्रोटीन की मात्रा होती है।

कहा जाता है कि माँस में विटामिन 'ए' की मात्रा अधिक होती

है, परंतु आर्थिक दृष्टि से जितनी कीमत एक किलोग्राम माँस के लिए देनी पड़ती है, उतने के दूध, छेना, दही या पनीर द्वारा उससे कई गुना अधिक विटामिन 'ए' मिल सकता है। मांस की अपेक्षा सोयाबीन में प्रोटीन, कैल्शियम, फास्फोरस आयरन, बसा और विटामिन्स आदि अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। सोयाबीन माँस की अपेक्षा सस्ता भी होता है। वनस्पति प्रोटीन का ९५ प्रतिशत भाग पच जाता है, परंतु माँस का ५० प्रतिशत प्रोटीन भी पचना मुश्किल है। विश्व में सर्वाधिक आबादी वाले देश चीन ने पौष्टिक आहार या आदर्श खाद्य के रूप में सोयाबीन को महत्त्व दिया है।

प्रमुख आहार विशेषज्ञ डॉ० एम० बी० गंडी कहते हैं कि "माँस की चिकनाई में भी ऐसे पदार्थ हैं जो कि शरीर में विभिन्न विकृतियों को उत्पन्न करते हैं।" डॉ० वाल्डेन के कथनानुसार सुअर के माँस में पाया जाने वाला टीनिया सोलियम नामक कृमि जो माँस पकाने पर भी आमतौर पर नहीं मर पाता शरीर में स्नायविक रोगों का जनक होता है। अंतर्राष्ट्रीय शाकाहार संघ के उपाध्यक्ष डॉ० बुललेंड ने योजना बनाई है कि हाथी, गैंड़ा, सुअर इत्यादि बड़े-बड़े जानवरों का सार्वजनिक प्रदर्शन किया जाए और सब लोगों को यह बतलाया जाए कि इन जानवरों का इतना बड़ा शरीर, ताकत शाकाहार के कारण है। संसार का सबसे बड़ा प्राणी ह्वेल भी पूर्ण शाकाहारी है।

अंडों में पाया जाने वाला सफेद भाग आँतों में सड़न पैदा करता है, आमाशय के रस स्राव को प्रभावित करता है जिससे पैप्सिन के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती है। "ब्रिटिश वैज्ञानिक यूप्लेहट" ने बताया है कि अंडे में थोड़ी मात्रा में डी० डी० टी० से मिलता जुलता एक रसायन भी पाया जाता है जो मानव शरीर के लिए बहुत हानिकारक होता है।

स्वास्थ एवं आरोग्य का वरदान जिन्हें प्राप्त करना हो उन्हें सर्वप्रथम आहार की भ्रांतियों से छुटकारा पाना होगा।

आहार पोषक ही नहीं, शुद्ध भी हो

मोटे तौर पर आहार में पाए जाने वाले रसायन अथवा पोषक तत्व केवल शरीर तक ही अपना प्रभाव दिखाते हैं, परंतु वस्तुस्थिति यह है नहीं। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार आहार मानवी चेतना को भी प्रभावित करता है। उसकी मान्यता है कि वस्तुओं में स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। अध्यात्म विदों के अनुसार अन्न का स्थूल स्वरूप माँस बनता है। उसके सूक्ष्म रूप से मस्तिष्क एवं विचार बनते हैं और कारण रूप भावनाओं का निर्माण करता है। यदि आहार में इनका अभाव होगा तो उससे पोषण तो दूर रहा उलटे रोग ही उत्पन्न होंगे।

अन्न के स्वरूप की भाँति ही यह बात भी मनुष्य को प्रभावित करती है कि वह किस प्रकार अर्जित किया गया है। यदि दुष्वृत्तियों के साथ अनीति पूर्वक उपार्जित किया गया है तो इससे मस्तिष्क में दुर्बुद्धि ही उत्पन्न होगी। इसी प्रकार उसे यदि प्रसाद भावना से पकाया और औषधि भावना से खाया न गया होगा, बनाने और खिलाने वाले की स्नेहसिक्त सद्‌भावनाओं का इसमें समन्वय न होगा तो उससे खाने वाले का अंत:करण विकसित न होगा, उसकी विचारणा एवं भावना के विकास में कोई सहायता न मिलेगी।

आहार न केवल स्थूल दृष्टि से पौष्टिक और स्वल्प होना चाहिए बल्कि उसके पीछे न्यायानुकूल उपार्जन और सद्‌भावनाओं का समावेश भी होना चाहिए तभी वह अन्न मनुष्य के तीनों आवरणों का समुचित पोषण कर सकेगा और स्थूल, कारण तथा सूक्ष्म शरीर को विकसित कर सकेगा। तभी उससे शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वांगीण विकास का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

आहार के साथ जुड़े हुए कुछ तत्व शरीर भूमिका से आगे बढ़कर

मन:क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं। इसके प्रमाण स्वरूप नशीली वस्तुओं का उदाहरण दिया जाता है। नशा पदार्थ का सूक्ष्म गुण है। वह रक्त, माँस को तो प्रभावित करता ही है, साथ ही मस्तिष्क को, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अंत:करण चतुष्टय को भी प्रभावित करता है। स्पष्ट देखा जा सकता है कि नशे का सेवन करने के बाद उसका पहला प्रभाव यह होता है कि मस्तिष्क बेकाबू हो जाता है, और वह कुछ का कुछ सोचने, समझने तथा देखने, अनुभव करने लगता है। नशेबाजी की आदत पड़ जाने पर तो सेवन कर्ता के गुण, कर्म एवं स्वभाव, चरित्र और क्षमताएँ तक प्रभावित होने लगती हैं। कहना नहीं होगा यह प्रभाव उसके स्तर की गिरावट के रूप में ही परिलक्षित होता है। नशेबाजी का प्रभाव केवल शरीर तक ही सीमित नहीं रहता, वह भूख मिटाने स्वाद देने और रक्त माँस बनाने तक के स्थूल शारीरिक क्रियाकलापों को ही प्रभावित नहीं करता बल्कि उसके सूक्ष्म प्रभाव मस्तिष्क तथा अंत:करण को भी प्रभावित करते हैं।

इसीलिए आत्मोन्नति के साधक-जनों को आत्म विद्या के विशारदों ने आहार शुद्धि पर सर्वाधिक जोर देने का निर्देश दिया है। यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया जाए तो और प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, नेति, धौति, आदि आगे के क्रिया कलापों में उलझा जाए तो यह छलांग लगाने जैसा दुस्साहस होगा जिसका परिणाम हितकर तो हो ही नहीं सकता। अक्षर ज्ञान सीखे बिना किसी बच्चे को ज्यामिति के कठिन प्रश्न हल करने के लिए कहा जाए तो वह अव्यवहारिक ही होगा, इसी प्रकार आहार से मस्तिष्क और भाव स्तर की सात्विकता की दिशा में अग्रसर करने वाले प्रयास न किए जाए, उसमें उन तत्वों का समावेश न किया जाए तो वह प्रयास भूखे पेट फुटवाल खेलने जैसा उपहासास्पद ही होगा।

आत्मिक प्रगति एवं समग्र स्वास्थ्य संवर्धन दोनों ही के लिए

आहार शुद्धि पर ध्यान देना सर्व प्रथम आवश्यक है। यों आहार के रासायनिक तत्वों का विश्लेषण बहुत पहले से होता रहा है। भोजन में कौन-सा पदार्थ कितनी मात्रा में होना चाहिए। इसकी अनेकानेक तालिकाएँ उपलब्ध हैं। जहाँ तक माँसल बलिष्ठ शरीर का प्रश्न है, उस संबंध में इन बातों का ध्यान रखना उपयोगी भी हो सकता है। किंतु मनुष्य केवल माँसपिंड तो है नहीं। उसमें बौद्धिक और आत्म चेतनाएँ भी मिलती हैं। आहार में उनके सुपोषण की व्यवस्था भी होनी चाहिए। गीता के सत्रहवें अध्याय में इसी दृष्टि से त्रिविध आहार का वर्गीकरण किया है जो मानवीय चेतना पर सात्विक, राजसी और तामसी प्रभाव छोड़ते हैं।

गीताकार के अनुसार भोजन का प्रयोजन केवल शरीर का पोषण और बल संवर्धन ही नहीं है, बल्कि उससे मानसिक और आत्मिक पोषण भी मिलना चाहिए। बहुत से पदार्थ ऐसे होते हैं जो शरीर की शक्ति सामर्थ्य को तत्काल बढ़ा देते हैं परंतु मनुष्य को मानसिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त भी कर देते हैं। नशीले पदार्थों को इसी प्रकार के भोजन की श्रेणी में रखा जा सकता है।

मस्तिष्क पर पड़ने वाले विभिन्न और विचित्र प्रभावों के प्रयोग सिद्ध करते हैं कि मस्तिष्क का स्तर आहार की परिधि से बाहर नहीं है। उसे भी प्रभावित किया जा सकता है। केवल स्वाध्याय, सत्संग, चिंतन, मनन से ही नहीं आहार के साथ घुले हुए सूक्ष्म तत्वों का संतुलन बनाकर मनुष्य के सोचने का तरीका भी समुन्नत किया जा सकता है। इतना ही नहीं भावनाओं की दिशा भी बदली जा सकती है। अवांछनीयता की दिशा में चल रही भाव प्रकृति को आहार शुद्धि के माध्यम से वांछित दिशा में मोड़ा और सुधारा जा सकता है। दुष्प्रवृत्तियों में लगे हुए दुर्भावना युक्त मनुष्य के अंतःकरण को परिष्कृत किया जा सकता है और उनकी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति में अभीष्ट परिवर्तन

किया जा सकता है।

जिस प्रकार कुछ पदार्थों का सूक्ष्म प्रभाव व्यक्ति को तामसिक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर करता है, उसी प्रकार कुछ पदार्थ ऐसे भी होते हैं जिनमें सतोगुणी दिव्य शक्ति रहती है और उसका सेवन क्रियागत रूप से चेतना स्तर में दिव्य प्रवृत्तियों का समावेश करता है। उन्हें या अन्य पदार्थों को, किन्हीं मनस्वी व्यक्ति की चेतना में मिश्रित करके उपयोगी बनाया जा सकता है। अथवा अपनी संकल्प शक्ति से भी उन्हें आत्मबल वर्धक बनाया जा सकता है। किन्हीं महापुरुषों के हाथ से ग्रहण किए गए प्रसाद का यही महत्व है। पूजा के समय प्रयुक्त नैवेद्य और जल भी ऐसा ही प्रभाव ग्रहण कर लेते हैं। पंचामृत, तुलसी पत्र, यज्ञ-भस्म जैसे पदार्थों में स्वयं की शक्ति तो होती है जब उसमें मंत्र शक्ति का और समावेश हो जाता है तो वे आत्मिक विशेषताओं के अभिवर्धन में और भी अधिक योगदान करती हैं। सद्भावना संपन्न माता, पत्नी या बहिन के हाथ के बनाए हुए भोजन का महत्व उनकी भावनाओं का समावेश रहने के कारण ही है।

पिछले दिनों ब्रिटेन मेनचेस्टर मेडीकल, रिसर्च इन्स्टीट्यूट ने इस विषय पर शोध कार्य हाथ में लिया कि आहार का मनुष्य और प्राणियों के स्वभाव, गुण तथा प्रकृति पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसके लिए कई परीक्षण किए गए। उनमें से एक इस प्रकार था। चूहा स्वभावतः शांत प्रकृति का होता है किसी से लड़ता झगड़ता या आक्रमण नहीं करता। प्रयोगशाला में पाले गए चूहे में से एक को निकाला गया और उसे सामान्य आहार न देकर मिर्च मसाले तथा माँस और नशीले चीजों से बना आहार दिया गया। यह आहार लेने से पूर्व तक चूहा बेहद शांत था, पर इसके कुछ ही घंटे बाद उद्दण्ड और आक्रामक बन गया। उसे वापिस पिंजरे में छोड़ा गया तो पिंजरे के चूहों को उस अकेले ने इस बुरी तरह सताया कि कुछ चूहे लहू-लुहान हो गए।

इसके बाद उसी चूहे को दूसरी बार सरल, शुद्ध और सात्विक भोजन दिया गया। इस पर भी पिछला प्रभाव तो बाकी था, किंतु चूहा अपेक्षाकृत शांत था। कई बार साधारण खाना लेने के बाद चूहा अपनी वास्तविक स्थिति में आ पाया। इस तरह के सैकड़ों प्रयोगों द्वारा इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सका कि जो कुछ खाया जाता है उससे शरीर का पोषण ही नहीं होता बल्कि लिया गया भोजन मनुष्य का व्यक्तित्व बनाने में भी असाधारण भूमिका निबाहता है। आत्म-विज्ञान की दृष्टि से स्थूल शरीर और कारण शरीर के समान, आहार के भी तीन प्रकार और तीन स्तर होते हैं जिन्हें सत्, रज और तम कहा जाता है। आहार के तम अंश से रक्त माँस बनता है, रज अंश से मस्तिष्कीय क्षमता प्रभावित होती है और सत् अंश भावनाओं का निर्माण करता है।

चिकित्सा शास्त्र की खोजबीनें और प्रयोग विश्लेषण आहार के स्थूल स्वरूप तक ही सीमित है। क्या खाने से शरीर के कौन से रासायनिक पदार्थों को बढ़ाया जा सकता है और क्या खाने से शरीर में कौन से रासायनिक तत्व घटते हैं चिकित्सा शास्त्र इतनी ही खोजबीन कर पाया है। विश्लेषण का क्षेत्र इस सीमा तक ही बढ़ा है कि मस्तिष्क पर आहार के कौन से अंश क्या और किस प्रकार का प्रभाव डालते हैं। संभवत: आगे चलकर आहार की कारण शक्ति के बारे में भी कुछ प्रयोग किए जाएँ। परंतु भारतीय ऋषि मुनियों ने इस विषय पर पहले से ही विशद् प्रकाश डाल रखा है कि क्या खाने से बौद्धिक प्रखरता बढ़ती है और कौन सा आहार स्वभाव तथा व्यक्तित्व की मूल परतों को स्पर्श करता है।

स्मरणीय है योगशास्त्रों और साधना ग्रंथों ने अंत:करण को पवित्र एवं परिष्कृत करने के लिए सात्विक आहार ही अपनाने को कहा है। गीता में भगवान कृष्ण ने सात्विक, राजसी और तामसी आहार की सुस्पष्ट व्याख्या की है तथा शरीर, मन और बुद्धि पर उसके पड़ने वाले

प्रभावों का भी स्पष्ट विवेचन किया है। आत्मिक प्रगति के आकांक्षी और साधना मार्ग के पथिकों के लिए इस बात का निर्देश दिया गया है कि सात्विक आहार को अपनाया जाए और उसकी सात्विकता को भी भावनाओं का सम्पुट देकर आत्मिक चेतना में अधिक सहायता दे सकने योग्य बनाया जाए। भगवान का भोग प्रसाद यज्ञाग्नि में पकाया गया चरुद्रव्य इसी प्रकार के पदार्थ हैं जिनकी स्थूल विशेषता न दिखाई देने पर भी उनकी सूक्ष्म सामर्थ्य बहुत अधिक होती है।

प्रत्यक्ष रूप में यदि आहार का मस्तिष्क और स्वभाव पर क्या प्रभाव पड़ता है यह देखना हो, तो नशों के रूप में देखा जा सकता है। हल्का या तेज नशा मस्तिष्क पर अपना कैसा प्रभाव छोड़ता है यह स्पष्ट है। सामान्य स्वस्थ मनोदशा में लोग बहुत कम अपराध कर्म करते हैं, जबकि शराब पीकर या अन्य तेज मादक द्रव्यों का सेवन कर ज्यादातर अपराध होते हैं। प्राय: सभी अपराधी शराब, चरस, गांजा जैसे तेज मादक द्रव्यों के आदी होते हैं। शरीर विज्ञानियों के अनुसार हल्के से हल्के मादक द्रव्यों का सेवन भी शरीर पर विषाक्त प्रभाव छोड़ता है। मस्तिष्क को कुंठित कर देने वाले नशे जिस प्रकार अपना हानिकारक प्रभाव दिखाते हैं उसी प्रकार ऐसे रसायन भी ढूँढ़ निकाले जा रहे हैं जो मस्तिष्क के अविकसित अंगों में पुनर्जीवन भर सकते हैं। नशेबाजी के ठीक विपरीत प्रकार की यह रचनात्मक दिशा हुई।

पश्चिमी देशों में इस विषय को लेकर काफी खोजबीन हो रही है। अमेरिका के वाल्टीमोर शहर के एक स्कूल में ५ विद्यार्थियों को स्मार्टपिल्स नामक दवा एक महीने तक खिलाकर देखा गया। एक महीने बाद उनके मस्तिष्क की परीक्षा की गई तो पाया गया कि इस थोड़ी-सी अवधि में उन छात्रों की मस्तिष्कीय क्षमता पहले से अधिक बढ़ गई थी। मिशीगन विश्वविद्यालय के जीवशास्त्री ने मस्तिष्क पर आहार का प्रभाव जाँचने के लिए मनुष्येत्तर प्राणियों पर भी प्रयोग किए

हैं। उक्त जीवशास्त्री डॉ० वनार्ड एग्रानोफ ने अपने प्रयोग के दौरान मछलियों की खुराक में फेर बदलकर उन्हें चतुर और भुलक्कड़ बनाने के सफल प्रयोग किए। डॉ० वर्नार्ड के अनुसार आहार में प्यूरोमाइरिन नामक प्रोटीन की मात्रा के घटने बढ़ने से मस्तिष्क की क्षमता भी घटती बढ़ती है। दस वर्षों तक लगातार प्रयोग और परीक्षण करने के बाद कैलीफोर्निया यूनिवर्सिटी के मनोविज्ञानी रिचार्ड थाम्पसन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि बुद्धि दैवी वरदान नहीं है उसे मानवी प्रयत्नों से घटाया अथवा बढ़ाया जा सकता है। इस प्रयोग शृंखला में उन्होंने कुत्तों, बिल्लियों, चूहों और बंदरों को भी शामिल किया और प्रतिपादित किया कि अन्य शारीरिक परिवर्तनों के समान ही आहार द्वारा मस्तिष्कीय क्षमता में भी हर स्तर का परिवर्तन कर सकना संभव है।

मिशीगन विश्वविद्यालय के ही प्रो० जेम्स मेकानेल ने तो अपने प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध कर दिया कि आहार में हेर-फेर करके स्मरण शक्ति और संवेदनशीलता को भी कम-ज्यादा घटाया बढ़ाया जा सकता है। इतना ही नहीं दो व्यक्तियों में स्मृति और अनुभवों का प्रत्यावर्तन भी किया जा सकता है। ठीक उसी प्रकार जैसे एक व्यक्ति का रक्त दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कराया जा सकता है और टूटे-फूटे अवयवों को बदलकर उनके स्थान पर नए अंग का प्रत्यारोपण किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि चिकित्सा विज्ञान का ढाँचा शरीर पर पड़ने वाले खाद्य-पदार्थों के प्रभाव की जानकारी के आधार पर, भले ही वह औषधि के रूप में ही क्यों नहीं, खड़ा किया गया है, वर्तमान में जारी प्रयोगों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि अगले दिनों बुद्धि की मंदता, अकुशलता और मानसिक विकृतियों का उपशमन भी खाद्य-पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति के आधार पर सफलतापूर्वक किया जाने लगेगा। संभव है अगले दिनों इस प्रकार की औषधियाँ बाजार में आने लगें जिनका सेवन कर मनुष्य अपनी

स्मरण शक्ति बुद्धि कौशल, सूझ-बूझ को बढ़ा सके।

मस्तिष्कीय क्षेत्र में यह सफलता आहार की सूक्ष्म शक्ति के आधार पर ही संभव हो सकेगी। इस प्रयोजन के लिए पदार्थों की सूक्ष्म शक्ति के विषय में अनेक प्रयोग और अन्वेषण कार्य चल रहे हैं। यह सूक्ष्म शक्ति शरीर का पोषण करने वाली स्थूल शक्ति से भिन्न स्तर की है। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि ये खाद्य शरीर के लिए भी उपयोगी हों, यह न तो आवश्यक है और न अनिवार्य ही।

आहार की स्थूल और सूक्ष्म शक्ति जो शरीर और मस्तिष्क को प्रभावित करती है, कारण शक्ति उससे भिन्न स्तर की है। कहना न होगा कि भावना क्षेत्र शरीर और मस्तिष्क से भिन्न और बढ़कर है। इसी के आधार पर गुण, कर्म, स्वभाव को दिशा मिलती है और उससे समूचे व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जो व्यक्ति शरीर से बलवान है कोई आवश्यक नहीं कि वह मस्तिष्क से भी बुद्धिमान हो। उसी प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति भावना स्तर पर उच्च स्थिति संपन्न हो यह आवश्यक नहीं है। शरीर से बलवान और मस्तिष्क से बुद्धिमान होने पर भी कोई व्यक्ति भावना स्तर पर गया गुजरा हो सकता है और निकृष्ट कोटि का दुष्ट जीवन जी रहा हो सकता है। ऐसे व्यक्ति अपने दुर्गुणों के कारण पग-पग पर ठोकरें खाते हैं और प्रतिभा संपन्न होते हुए भी असफल जीवन जीकर रोते कलपते रहते हैं। इसके विपरीत अपेक्षाकृत सामान्य स्वास्थ्य साधारण बुद्धि के लोग परिष्कृत भावना स्तर के कारण महामानवों की स्थिति में जा पहुँचते हैं और वंदनीय स्थान प्राप्त कर लेते हैं।

यज्ञ विज्ञान आज भी अपने स्थान पर सही और निश्चित परिणाम प्रस्तुत करने में समर्थ हैं। यह बात अलग है कि वह विज्ञान लुप्त हो गया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह तो पता चलता है कि इस शक्ति के विकास में खाद्य-पदार्थों की कारण शक्ति का भी

सफलतापूर्वक उपयोग किया जाता था। पिप्पलाद ऋषि ने इसके लिए पीपल के फल खाकर निर्वाह किया था और इसी कारण पिप्पलाद ऋषि कहलाए। औदम्वर ऋषि का नाम भी इसी आधार पर पड़ा कि वे औदुम्ब फल (गूलर के फल) खाकर अपनी जीवन-यात्रा चलाते थे। केवल मूँग ही खाकर निर्वाह करने के कारण मौद्गल पड़ा। यह खाद्य पदार्थ भी विशिष्ट उपचारों से अभिमंत्रित किए जाते थे ताकि उनकी कारण शक्ति विशिष्ट रूप से उभरकर आ सके। यज्ञ विज्ञान के अनुसार विशिष्ट अग्निहोत्रों में विभिन्न प्रयोगों द्वारा हवन सामग्री को परिष्कृत और अन्न को संस्कारित इसीलिए किया जाता है कि उनकी कारण शक्ति का उपयोग किया जा सके।

आत्मिक प्रगति के लिए की जानी वाली सभी साधनाओं में आहार की कारण शक्ति को विकसित करके उपयोग का विधान है। इस संबंध में उपेक्षा बरती जाने के लिए किए जा रहे साधनात्मक प्रयोगों में यत्किंचित ही सफलता मिलती है जबकि आत्मबल का अभिवर्धन ही मनुष्य की सबसे बड़ी सफलता है और वही सबसे मूल्यवान संपदा भी, यदि यह पूँजी अभीष्ट मात्रा में विद्यमान हो तो मनुष्य लौकिक दृष्टि से और आत्मिक दृष्टि से सर्वप्रकारेण सफल हो सकता है। उससे इतनी शक्ति आ जाती है कि वह स्वयं अपना आत्मिक उत्कर्ष करने के साथ-साथ सिद्ध पुरुषों की तरह अपनी नाव में बिठाकर असंख्यों को पारकर सकता है। इस संदर्भ में आहार-शुद्धि की, उसकी सतोगुणी कारण-शक्ति की उपयोगिता असंदिग्ध ही नहीं उपयोगी, अनिवार्य भी है। मनुस्मृति में साधकों के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य आहार की लंबी सूची बताई गई है और कहा गया है कि आत्मिक प्रगति के इच्छुकों को अभक्ष्य आहार अनजाने में भी नहीं लेना चाहिए। अनजाने में हुए अभक्ष्य-भक्षण का प्रायश्चित विधान करते हुए कहा गया है, "अमत्यैतानि वद् जग्ध्वा कृच्छ सान्तपन चरेत् (। ६०) अर्थात्-अनजाने में उपरोक्त अभक्ष्य भोजन कर लेने पर

कृच्छसन्तान अथवा यति चांद्रायण व्रत करना चाहिए।"

आहार संबंधी ये कड़े नियम इसलिए बनाए गए थे कि साधक आत्मिक प्रगति के पथ पर निर्बाध गति से बढ़ता हुआ रह सके। खेद है कि प्राचीनकाल के तत्वदर्शियों द्वारा जो प्रयोग किए गए थे, वे अब प्राय: लुप्त ही हो गए हैं। मात्र उनकी छाया छुट-पुट कर्मकांडों के रूप में खंडहरों की तरह जहाँ-तहाँ अपनी कुरूप और विद्रूप स्थिति में पड़ी दिखाई देती है। भवन का प्रयोजन खंडहरों से पूरा नहीं हो सकता और न ही शरीर साधना का उद्देश्य एकांगी कर्मकांडों से पूरा हो सकता है। यही कारण है कि मात्र शरीर, श्रम और वस्तु समुच्चय के आधार पर योग के नाम की जो लकीर भर पीटी जाती रही है उसके उत्साहवर्धक सत्परिणाम सामने नहीं आ रहे हैं। उसके लिए तो पदार्थ की कारण शक्ति को भी समझना और उपयोग में लाना पड़ेगा। मात्र योगासन रूपी प्राणायाम ही नहीं सात्विक शुद्ध आहार भी स्वस्थ शरीर एवं मन के लिए उतना ही आवश्यक है।

आसन-व्यायाम : स्वस्थ व पुष्ट शरीर के लिए अत्यंत अनिवार्य

योग मुख्यतया जीव चेतना को ब्रह्म चेतना के साथ जोड़ देने वाली भावनात्मक एवं विचारणात्मक पद्धति है। उसमें दार्शनिकता प्रधान है तथा हलचल कम। योगी अपनी हलचलों को समेटते और शरीर की शिथिलता मन की शांति, एकाग्रता की स्थिति में ले जाने का प्रयत्न करते हैं। इससेअंतर्जगत की थकान दूर होती है और ध्यान-धारणा के सहारे समाधि स्तर की विश्रांति प्राप्त करने के उपरांत वह स्थिति बन जाती है जिसमें नव जीवन का नए सिरे से निर्धारण संभव है। ब्रह्म विद्या का तत्व-दर्शन मन और चिंतन परक है उपनिषद् में योग का प्रतिपादन इसी रूप में हुआ है।

योग का भौतिक पक्ष वह है, जिसमें शारीरिक हलचलों पर ध्यान दिया गया है, और उसके सहारे स्वास्थ्य रक्षा के लिए प्रयत्न किया गया है। इस प्रतिपादन का तर्क यह है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन रहता है। इसलिए मन को सुसंस्कृत बनाने से पूर्व शरीर को स्वस्थ बनाने की आवश्यकता है।

तर्कों का यह सिलसिला व्यर्थ है। शरीर प्रथम या मन इस वाद विवाद में पड़े बिना भी यह माना जा सकता है कि स्वास्थ्य की अपनी उपयोगिता है और प्रधान या गौण ठहराने के झंझट में पड़े बिना भी इसे महत्त्वपूर्ण समझा जाए। इसके लिए जो साधन उपयोगी हो सकते हैं उन्हें काम में लाया जाए।

योग साधना के शरीर पक्ष में आसन, प्राणायाम, बंध, मुद्रा जैसी, क्रियापरक विधियों का समावेश है। हठयोग के अंतर्गत नैति, धोति, वस्ति न्यौली, वज्रौली, कपाल भांति आदि जिन शोधन कृत्यों का विधि-विधान है उन्हें भी इस स्तर का माना जा सकता है। व्रत, उपवास एवं तितिक्षा उपचार भी लगभग इसी श्रेणी के हैं। इनका उद्देश्य शरीर को निरोग, समर्थ बनाना है। फिर भी जिन सिद्धांतों, उपायों का इस प्रकार के क्रिया-कृत्य में उपयोग किया जाता है उनका परोक्ष रूप से चेतना को परिष्कृत करने में भी कुछ उपयोग रहता ही है। स्वास्थ्य सुधार का लाभ भी कम महत्व का नहीं है। उसके लिए जो उपचार काम में लाए जाते हैं उन्हें योगविद्या के भौतिक पक्ष की पूर्ति करने वाला माना और अपनाया जा सकता है।

विज्ञान क्षेत्र में शरीर को ही प्रधानता मिली है इसलिए योग के संबंध में उसका वही पक्ष आकर्षक लगा है जो स्वास्थ्य संवर्द्धन के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए विदेशों में आसन, प्राणायाम को ही योग माना गया है बहुत हुआ तो मानसिक एकाग्रता को भी इसमें सम्मिलित किया जाता है।

आसनों के संबंध में जो शोध देश और विदेश में चला है उसमें वे अंग संचालन की सामान्य व्यायाम प्रक्रिया न रहकर उससे अधिक बढ़े-चढ़े सिद्ध हो रहे हैं। स्पष्ट है कि जिसे प्रयोगशाला स्वीकार करती है उन्हें अन्य लोग भी अपनाने लगते हैं। लगता है जिन आसन अभ्यासों को उपहासास्पद ठहराया जाता था अगले दिनों तथाकथित लोगों को भी उनकी उपयोगिता देखते हुए आकर्षित होना पड़ेगा।

रूस के व्यायाम चिकित्सा के प्रोफेसर एम० सारकी सौव सैराजिनी ने "मैन मस्ट वी हेंल्दी" नामक पुस्तक लिखी है। वे वहाँ अपने विषय के मर्मज्ञ एवं विशेषज्ञ समझे जाते हैं। अपनी उक्त पुस्तक में उन्होंने स्वस्थ रहने के लिए यौगिक श्वसन का परामर्श दिया है।

सेण्ट्रल क्लीनिक हॉस्पीटल, मास्को के बाल-रोग विशेषज्ञ एवं सर्जन डॉ० अनातोली मैड वैस्टकाई रोगी बालकों को सरल एवं साधारण योगासनों का नुस्खा बताते हैं और इस कार्य में वह विशेष सफलता प्राप्त करते हैं।

रूस के ही कॉन्सटेनिटन बुंटको नामक हृदय रोग विशेषज्ञ चिकित्सक ने सैकड़ों विभिन्न प्रकार के बीमारों को यौगिक क्रियाओं द्वारा ठीक करने में आशातीत सफलता प्राप्त की, उन्होंने दमा में पीड़ित व्यक्तियों को औषधियाँ देने के बजाय यौगिक श्वसन की क्रिया का अभ्यास कराया। परिणाम स्वरूप उनके शरीर में प्रवेश करने वाली ऑक्सीजन व कार्बनडाइऑक्साइड के बीच रहने वाला असंतुलन दूर हो गया और दमा के रोगियों को बहुत लाभ हुआ। दमा के अतिरिक्त वह यौगिक क्रियाओं के द्वारा मिर्गी उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोग जैसी भयानक बीमारियों का सफल उपचार करते हैं।

वर्तमान समय में विश्व में करोड़ों की संख्या में मधुमेह के रोगी हैं। 'मेडीकल साइंस' के द्वारा अभी तक इसका कोई सुनिश्चित उपचार ज्ञात नहीं हो सका है। ४०० ई० पू० सुश्रूत ने इन बीमारियों

के रोगियों के मूत्र में मिठास की उपस्थिति बताई थी। ईसा की १७वीं शताब्दी में वैस्ट विली ने मधुमेह से पीड़ित रोगी के मूत्र में शक्कर की उपस्थिति का परीक्षण करके दिखाया। मधुमेह के रोगी की समस्त अंत:स्रावी ग्रंथियाँ प्रभावित होती हैं। प्रारंभ में रक्त में ग्लूकोज की मात्रा कम एवं पैंक्रियाज से स्रवित इन्सुलिन की मात्रा में कमी पाई जाती है।

सेण्ट्रल कांन्सिल फॉर रिसर्च इन इण्डियन इन्डिजिनस मेडीसन एण्ड हौम्योपैथी द्वारा आयोजित प्रथम वैज्ञानिक सम्मेलन में डॉ० धर्मवीर, नारायण वरन्दानी और स्वामी आनंद ने मधुमेह की चिकित्सा में 'योग' का योगदान संबंधी कुछ प्रयोगों का निष्कर्ष प्रस्तुत किया।

"यौगिक ट्रीटमेंट रिसर्च सेल्टर" नामक संस्था में विभिन्न आयु, वर्ग के २८३ मधुमेह के रोगियों पर तीन महीने के लिए प्रयोग किया गया। रोगियों को संतुलित भोजन के रूप में ९८ ग्राम वसीय पदार्थ, ४०० ग्राम कार्बोहाइड्रेट्स, १०० ग्राम प्रोटीन और कुल २९०० कैलोरी नियमित ढंग से प्रदान किए। समय-समय पर उनका भार, मूत्र परीक्षण, खून में शुगर, ग्लूकोज की जॉच तथा हृदय का ई० सी० जी० द्वारा परीक्षण किया गया।

रोगियों कों प्रतिदिन प्रात: सायं दो बार सर्वांगासन, हलासन, मयूरासन, पादहस्तासन, उत्तानपादासन, शीर्षासन, जानुसिरासन, पवनमुक्तासन, शवासन आदि सरल आसन एवं कुछ अन्यान्य यौगिक क्रियाएँ कराई जाती रहीं। साथ ही उनकी दिनचर्या नियमित क्रम से रखी तथा प्रार्थना, भजन-पूजन, ध्यान-साधना आदि का भी समावेश रखा गया।

तीन महीने के परीक्षण के बाद देखा गया तो ज्ञात हुआ कि ५२% रोगी लाभान्वित हुए उनमें से अधिकांश पूर्ण स्वस्थ हो गए। इस अवधि में भी जिन्हें बहुत अल्प लाभ पहुँचा या ठीक नहीं हुए वे या

तो जन्म से रुग्ण थे अथवा लंबी अवधि से बीमार रहे थे।

"योग लाइफ" के १९७७ के अंक में डॉ० लक्ष्मीकांतन का "योग एण्ड दी हार्ट" नामक लेख छपा था। डॉ० लक्ष्मीकांतन "मेडीकल कॉलेज" मद्रास के प्रोफेसर हैं। उन्होंने गवर्नमेंट जनरल हॉस्पीटल में विभिन्न ह्रदय रोगियों पर आसनों का प्रभाव देखने के लिए प्रयोग किए। उन्होंने ऐसे उच्च रक्तचाप वाले रोगियों के ऊपर प्रयोग किए जिन्हें "मैडीकल-चिकित्सा" से कोई विशेष फायदा नहीं हुआ। प्रोफेसर लक्ष्मीकान्तन जी ने दो प्रकार के योगासनों का अभ्यास रखा। (१) जिनके रक्तचाप अधिक उच्च थे और ह्रदय कमज़ोर थे उनको केवल (शवासन में ही पैरों के नीचे नरम तकिया लगाना) का अभ्यास कराया इनको करने से रोगियों को काफी आराम मिला।

(२) जिनके ह्रदय मजबूत थे उनके उपरोक्त अभ्यास के साथ हलासन, सर्वांगासन और विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास कराया।

आसनों के अभ्यास के उपरांत रोगियों को अधिक स्फूर्ति एवं शक्ति का अनुभव हुआ और उन्हें पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी गहरी नींद आने लगी।

इसी प्रकार के परिणाम डॉ० के० के० दांते ने भी शवासन के प्रभाव से ह्रदय-रोग के रोगियों पर पाए हैं।

पटना के डॉ० श्री निवास एवं अमेरिका के डॉ० बेनसन ने प्रयोगों के आधार पर देखा कि ह्रदय रोगों पर ध्यान का बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है।

आसन व्यायाम पूर्णतः वैज्ञानिक व्यायाम पद्धति है। इसमें माँस-पेशियों में खिंचाव एवं फैलाव होने से रक्त प्रवाह की गति में कुछ तीव्रता आती है जबकि अन्य व्यायाम जैसे दंड-बैठक आदि से दवाब पड़ता है जिसमें पेशियाँ कठोर हो जाती हैं। आसनों से पेशियों में लचीलापन आता है। शरीर में स्फूर्ति की अनुभूति होती है।

शीर्षासन को आसनों में सबसे उत्तम कहा जाता है। इस पर वैज्ञानिक प्रयोग परीक्षण किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम पोलैण्ड के थर्ड क्लीनिक ऑफ मेडीसन के डायरेक्टर एलेक्जाण्डो विच (जूलियन) ने शीर्षासन के द्वारा शरीर के अवयवों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन वैज्ञानिक ढंग से किया। उन्होंने शारीरिक एवं मानसिक रूप से संतुलित स्वास्थ्य वाले व्यक्ति पर शीर्षासन के प्रभाव को देखने के लिए एक्सरे एवं ई० सी० जी० आदि उपकरणों की सहायता ली।

प्रोफेसर जूलियन ने उस व्यक्ति को खाली पेट की स्थिति में ३०, ४० मिनट शीर्षासन करा के शवासन में विश्राम कराया। आसन के पूर्व एवं बाद में परीक्षणों से निम्न निष्कर्ष निकाले।

शीर्षासन से रक्त को जमाने वाले पदार्थ सीरप, जो रक्त में पाया जाता है, उसकी मात्रा में संतुलन आने लगता है। उन्होंने शीर्षासन के अभ्यास से हृदय रोग के दौरे रोके जा सकने की संभावना व्यक्त की है।

रक्त में श्वेत कणों की वृद्धि पाई गई जिससे शरीर की जीवनी शक्ति एवं रोग-निरोधक क्षमता में वृद्धि पाई गई।

शीर्षासन की स्थिति में ऐक्सरे द्वारा देखे जाने पर वक्षस्थल फैला हुआ पाया एवं हृदय पूरी तरह दबाव रहित देखा गया।

फेफड़ों को पर्याप्त खुला स्थान मिलता है। फेफड़ों में ऑक्सीजन की ३३% की वृद्धि देखी गई तथा श्वाँस की दर एवं मात्रा में कमी पाई गई श्वाँस की मात्रा तो प्रति मिनट ८ लीटर के स्थान पर ३ लीटर हो गई परंतु फेफड़ों की उसको "कन्ज्यूम" करने की क्षमता बढ़ गई। निष्कासित दूषित वायु में ऑक्सीजन की मात्रा में १०% कमी हो गई।

भुजंगासन पर अनुसंधान जून १९७८ चेकोस्लोविया में हुआ। 'फर्स्ट कांफ्रेंस ऑन दि एप्लिकेशन आफ योग इन रिहेविलएशन थेरॉपी' में इस आसन पर विशेष प्रयोग किए गए। प्रयोग कर्त्ताओं ने

पाया है इस आधार पर मानसिक तनाव को नियमित करने में सहायता मिलती है।

शोनावाला (महाराष्ट्र) में चलने वाले प्रयोग में सर्वांगासन मयूरासन को सामान्य स्वास्थ्य संवर्द्धन और दुर्बलता ग्रसित रोगियों के लिए अन्य आसनों की तुलना में अधिक उपयोगी पाया गया।

देश-विदेश में आसन उपचार के संबंध में चल रहे अनुसंधान यह बताते हैं कि उन्हें सरल व्यायामों की तरह प्रयुक्त करते हुए कई ऐसे रहस्यमय लाभ उठाए जा सकते हैं जो ऐसी ही अंग संचालन की अन्य साधारण क्रिया-पद्धतियों के माध्यम से संभव नहीं हैं।

सूर्य सेवन से जीवनी शक्ति बढ़ाएँ

सामान्यतया इतना ही समझा जाता है कि सूर्य से गर्मी और रोशनी मिलती है। यों यह दोनों भी जीवन निर्वाह और सृष्टि व्यवस्था के लिए आवश्यक हैं, पर तथ्यों को गंभीरता से विचार करने से प्रतीत होता है कि सूर्य की सत्ता ही जीवन संपदा का रूप धारण करती है। रोग निवारण और स्वास्थ्य संबर्द्धन में निरंतर काम आने वाली "जीवनी-शक्ति" शरीर का अपना उपार्जन नहीं वरन् सूर्य का दिया हुआ अनुदान है। इसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम सूर्य ऊर्जा के निकट संपर्क में रहें । उससे बचते फिरने से तरावट की सुविधा भले ही मिल सके, पर उस सामर्थ्य की कमी होती जाएगी जो स्वास्थ्य रक्षा एवं दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है।

इस तथ्य से सभी परिचित हैं कि सूर्य के बिना पृथ्वी पर जीवन की संभावना नहीं है। सूर्य किरणें सभी प्राणियों के साथ मानव जीवन को प्रत्यक्षतः प्रभावित करती हैं, पृथ्वी के सभी पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं एवं मनुष्यों का जीवन सूर्य पर ही अवलंबित है। सभी खाद्यान्नों की उत्पत्ति और ऊर्जा सूर्य से ही प्राप्त होती है। पौधा अपने हरे रंग

से सूर्य की शक्ति को शोषित करता है, जड़ों द्वारा जल, हवा से कार्बन डाईआक्साइड, सूर्य शक्ति के माध्यम से पौधे अपने हरे रंग (क्लोरोफिल) से एक संयुक्त पदार्थ बना लेते हैं, जिन्हें कार्बोहाइड्रेट कहते हैं। पौधों को पोषण इन्हीं से मिलता है। इन कार्बोहाइड्रेट में बसा, स्टार्च एवं शक्कर होते हैं। वनस्पति शास्त्र में इसी क्रिया को (पौधों में भोजन निर्माण की प्रक्रिया) (फोटोसिन्थेसिस) प्रकाश संश्लेषण के नाम से जाना जाता है।

पेड़-पौधों की प्रकाश संश्लेषण क्रिया से उनका भोजन बनता है। मनुष्य का आहार वनस्पति है, दूध गाय-भैंस से प्राप्त होता है लेकिन वे उसे वनस्पतियाँ खाकर ही बना सकते हैं अर्थात् प्रकारांतर से भी खाद्य पदार्थ सूर्य किरणों से ही उत्पन्न माने जा सकते हैं।

सूर्य-रश्मियों के अदृश्य भाग में इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायलेट किरणें और भी अधिक महत्वपूर्ण हैं। पृथ्वी को गर्म रखने, जैव रासायनिक क्रियाओं को तीव्र करने का कार्य इन्फ्रारेड किरणों से होता है। अल्ट्रावायलेट किरणों से हमारे शरीर में विटामिन 'डी' का निर्माण होता है। मात्र इसी विटामिन का मानव शरीर में निर्माण होता है। यह कैलशियम, फास्फोरस आदि के खनिज लवणों को उपयोगी बनाने का कार्य करता है। इन्फ्रारेड और अल्ट्रावायलेट किरणों को कृत्रिम रूप से पैदा करके रोगों के उपचार में प्रयोग होने लगा है। सूर्य किरणों का प्रत्यक्ष रूप से उपयोग अन्य कृत्रिम उपायों से प्राप्त लाभों की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छा रहता है।

फ्रांस के एक वैज्ञानिक डॉ० हापकिन्स का कहना है कि "मानव-शरीर एक ऐसा पुष्प है जिसे सूर्य के प्रकाश की सबसे अधिक आवश्यकता है।" वहाँ कुछ व्यक्तियों पर प्रयोग करके देखा गया, उनको हल्के सफेद वस्त्र पहिनाकर सूर्य के प्रकाश में रखा गया। फिर उन्हीं को उतने समय के लिए बिना वस्त्रों के सूर्य किरणों के संपर्क

में रखा गया। निष्कर्ष यह निकला वस्त्र सहित रहने की अपेक्षा बिना वस्त्रों के रहने पर वजन में वृद्धि अधिक पाई गई। कार्य करने की क्षमता भी अधिक देखी गई तथा स्वास्थ्य भी अपेक्षाकृत अधिक अच्छा पाया गया और नींद भी अच्छी आई।

जर्मन के प्रसिद्ध डॉक्टर लुईकुने ने कई रोगों के उपचार के लिए किरणों का उपयोग सफलतापूर्वक किया। सूर्य में रोगों को नष्ट करने तथा प्राणी मात्र को स्वास्थ्य एवं नवजीवन प्रदान करने की अपूर्व प्राकृतिक शक्ति है। प्राचीन काल से ही वैदिक त्रिकाल संध्या करने की पद्धति सूर्य की इसी लाभकारी शक्ति का सान्निध्य प्राप्त करने के लिए बनाई गई थी। ऋषि-मुनियों के आश्रय, गुरुकुल आदि ऐसे ही स्थान पर होते थे जहाँ सूर्य प्रकाश, खुली वायु एवं निर्मल आकाश और पवित्र वातावरण रहता था।

सूर्य के प्रकाश को दृश्य एवं अदृश्य दो प्रमुख भागों से मिलकर बना माना जाता है। अदृश्य भाग में पराबेंगनी (अल्ट्रावायलेट) किरणें होती हैं तथा दूसरे प्रकार की "इन्फ्रारेड" किरणें भी होती हैं। इनका शरीर पर चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। इन्फ्रारेड किरणें शरीर को गर्म करती हैं। तथा अल्ट्रावायलेट किरणें लाल रक्तकणों की वृद्धि करती हैं। उनमें हीमोग्लोबिन की मात्रा बढ़ने से ही यह वृद्धि होती है।

सूर्य की रश्मियों में रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने की अद्‌भुत क्षमता है। सूर्य चिकित्सा विज्ञानियों का कहना है कि सभी प्रकार के रोगों में सूर्य की किरणों से लाभ प्राप्त किया जा सकता है। भूख न लगना, डिसेंण्ट्री, खाँसी, फोड़ा-फुन्सी, कालरा, पुराना नेत्र-रोग, मानसिक असंतुलन आदि सबमें सूर्य-किरणों की लाभदायक शक्ति का उपयोग हो सकता है। कैलशियम की कमी, एवं विटामिन "डी" की अल्पता में तो सूर्य रश्मियों का उपयोग लाभप्रद है ही।

डॉ० स्किली का कहना है कि रोगों से छुटकारा पाने, स्वस्थ होने

के लिए रवि-रश्मियों का विधिवत् उपयोग किया जाए। प्रातः धूप में बैठकर सरसों के तेल की मालिश कांति वृद्धि के लिए अतीव उपयोगी है। फेफड़े, के टी० वी० रोग एवं अन्यान्य बुखार संबंधी रोगों में धूप सीधे शरीर पर न पड़ने पाए बल्कि कपड़े या कांच से छनकर उपयोग किया जाए। इसके अतिरिक्त सूर्य-किरणों के प्रयोग के समय निम्नलिखित सावधानियाँ अपनाई जाएँ-

शीत प्रधान देशों में जब धुंध और बदली नहीं रहती और स्वच्छ प्रकाश धरती पर आता है तो लोग सूर्य सेवन के लिए आतुर हो उठते हैं। शरीर को निर्वस्त्र करके उस पर खुली किरणें देर तक पड़ने देते हैं। मात्र जननेन्द्रिय और सिर को हरे पत्तों से ढके रहते हैं। उन देशों में सूर्य सेवन को अलभ्य अवसर मानकर उसका लाभ आतुरतापूर्वक उठाने के लिए अनेक विधि-विधान बनाए गए हैं, पर भारत जैसे देशों में तो वह सहज सुलभ है इसलिए यहाँ तेज धूप से बचने एवं प्रातः काल की स्वर्णिम रश्मियों को अधिक हितकारक मानने का जो प्रचलन है उसी को पर्याप्त माना जा सकता है।

दोपहर की कड़ी धूप से बचना एक बात है और उससे बचने में शान समझना दूसरी। अमीरी के चोचलों में यह भी है कि गर्मी से बचा जाए और ठण्डक में रहा जाए। ऐसे लोगों के शरीर में विषाणु पलने लगते हैं और ऋतु प्रभाव से लेकर अन्यान्य प्रतिकूलताओं का सामना करने की सामर्थ्य घट जाती है। उन्हें उन पोषणों से भी वंचित रहना पड़ता है जो अंतरिक्ष में बिना मूल्य बरसते हैं और कीमती टॉनिकों से भी अधिक गुणकारी होते हैं। इनसे बचने का अर्थ है प्रकृति प्रदत्त उन बहुमूल्य अनुदानों को अस्वीकार करना जो शरीर और मन को सुदृढ़ बनाए रहने के लिए आवश्यक हैं, सूर्य सान्निध्य में जीवन-यापन करना शक्ति संवर्द्धन और रोग निवारण दोनों ही दृष्टियों से दैवी वरदान है।

जड़ी-बूटी प्रयोग, उपचार की एक पूर्णतः नैसर्गिक विधा

तीन वर्ष पूर्व अमेरिका में 'स्वाइन-फ्लू' निरोधक योजना बड़े पैमाने पर लागू की गई। इन्फ्लुऐंजा के वायरस निरोधक टीके सभी को सुरक्षा उपचार के नाते लगाने का निश्चय किया गया। इसके बाबजूद भी व्यक्ति रोगी हुए और काल-कवलित हुए। कारण था-फ्लू निरोधी टीका, जिसका स्नायु संस्थान पर घातक प्रभाव। सरकार के चेतने तक करीब ५०० व्यक्तियों की जान ले चुका था। रोग की आशंका मात्र से जन समुदाय के स्वास्थ्य से अदूरदर्शितापूर्ण खिलबाड़ का यह एक छोटा-सा उदाहरण है।

एलोपैथी आज की सुविकसित अत्याधुनिक चिकित्सा पद्धति है। रोग विज्ञान, शरीर विज्ञान एवं शरीर क्रिया विज्ञान की दृष्टि से गहन अध्ययन एवं शोध के आधार पर रोगों की संभावना, स्वरूप एवं जटिलताओं के संबंध में बड़ी मजबूत नींव इस पद्धति के नेताओं ने खड़ी की है। यह बात चिकित्सा के संबंध में खरी नहीं उतरती। एक नहीं, अनगिनत उदाहरण इस बात को गले नहीं उतरने देते कि यह पद्धति सुनिश्चित है, हानिरहित है।

आधुनिक चिकित्सालयों में हृदय संबंधी कष्टों के लिए विशेष यूनिट होती है। इन्हें इंटेन्सिव केयर यूनिट कहा जाता है। एक यूनिट के निर्माण पर लाखों रुपए खर्च आता है। १९३९, १९४९, १९६९ में हृदय कष्ट के लिए जितने व्यक्ति अमरीकी अस्पतालों में भरती किए गए, उनमें मरने वालों की संख्या में पहले की अपेक्षा कोई कमी नहीं थी। अब इन्हीं व्यक्तियों के प्रयोगशाला परीक्षण, इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम, एक्सरे आदि के प्रयोग से होने वाले खर्च में तिगुनी वृद्धि हुई है। २२ अप्रैल १९७८ का लेसेंट पत्र लिखता है कि "हृदय कष्ट का उपचार

घर में भी उतनी ही दक्षता से संभव है, जितना कि अस्पताल में।''
एक अध्ययन से वैज्ञानिकों ने यह पता लगाया कि हृदय कष्ट के संकटपूर्ण छह सप्ताह के बाद घर पर रहने वाले व आई० सी० यू० में चिकित्सा कराने वाले दलों में मरने वालों की संख्या में कोई विशेष अंतर नहीं था।

एक्सरे एक व्यय साध्य प्रयोग है, पर पूरे विश्व में परीक्षण का महत्वपूर्ण अंग है। जितने एक्सरे कराए जाते हैं, उनमें से आधे व्यर्थ होते हैं। इसकी कैंसर उत्पादकता पर भी लोगों का अब ध्यान गया है। बचपन में एक्सरे कराने वाले कई व्यक्तियों को चढ़ती उम्र में कैंसर से ग्रस्त होते पाया गया है। उपचार एवं परीक्षण के अलावा तीसरा महत्वपूर्ण पक्ष चीर-फाड़ का है। एक अमेरिकी विशेषज्ञ डॉ० एलवर्ट हैवरकैम्प का कहना है कि गर्भस्थ बालकों के परीक्षण हेतु आज लैसर उपकरण का प्रयोग अधिकाधिक हो रहा है एवं बिना किसी प्रयोजन के माँ के पेट का आपरेशन कर बच्चों की प्रसूति कराई जा सकती है। अब अमरीका में चार में से एक बच्चे का जन्म आपरेशन द्वारा होता है। ८ अक्टूबर १९७७ के लैसैंट के अनुसार ऐसे बच्चों का स्वास्थ्य जन्म के कुछ माह अधिक ही खराब रहता है। उन्हें स्वाँस संस्थान संबंधी रोग अधिक उत्पन्न होते हैं। न्यूमोनिया एवं आगे चलकर टी०वी० होने के अवसर उन्हें अधिक होते हैं। इन माताओं के गर्भाशय की झिल्ली में भी सूजन आ जाती है। आगे भी जब प्रसव हो तो उसमें आपरेशन की ही आवश्यकता होती है।

उपचार, परीक्षण, सर्जरी के अतिरिक्त एक चौथा पक्ष आहार का है। जितनी उदारता इस क्षेत्र में आधुनिक चिकित्सा पद्धति ने दर्शाई है उतना ही रोगों का प्रत्याक्रमण बढ़ता चला गया है। बीसवीं शताब्दी के भोजन में मैदा, चीनी, चोकर, युक्त भोजन की ही प्रधानता है। चोकर रहित भोजन आँतों की सक्रियता को कम करता है। जगह जगह

थैलियाँ बन जाती हैं, जिन्हें डायवर्टिकुलोसिस रोग का कारण कहा जाता है। यह रोग कैंसर को जन्म देने वाला माना जाता है। सामान्य प्राकृतिक आहार करने वाले आदिवासियों में यह न के बराबर होता है।

उपरोक्त चारों पक्षों की समीक्षा करने के बाद चिकित्सा पद्धति के औचित्य पर पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। आरंभिक लाभ के बावजूद अंततः घाटा कहाँ तक स्वीकार है, इस पर विवेक बुद्धि यही कहती है कि यह अदूरदर्शितापूर्ण अंधविश्वास यथाशीघ्र जनमानस से मिटाया जाना चाहिए। तुरंत का चमत्कार हतप्रभ तो कर देता है, पर अपने दूरगामी दुष्परिणाम छोड़ जाता है। वह उपेक्षणीय तो नहीं है, पर ऐलोपैथी का शब्दार्थ भी कुछ ऐसा ही इंगित करता है। 'द बुक ऑफ नोलेज एन्सायक्लो पीडिया' के अनुसार ऐलोपैथी वह चिकित्सा पद्धति है जो औषधि के प्रयोग से ब्याधि के अलावा अन्य दूसरे लक्षण पैदा करती है, कष्टों को जन्म देती है। भावार्थ यही कि एक बीमारी का उपचार करने के लिए दूसरा रोग उत्पन्न कर देना। एण्टी वायोटिक्स शब्द का अर्थ होता है वे औषधियाँ जो जीवन के लिए घातक है। एण्टी अर्थात् विरुद्ध, वायोसिस अर्थात् जीवन। इसीलिए ''हीलिंग एण्ड कान्क्वेस्ट ऑफ पेन'' के लेखक डॉ० जे० फील्ड कहते हैं कि वर्तमान चिकित्सा पद्धति एक प्रयोग मात्र है। इसमें वैज्ञानिक अंधविश्वास की ही प्रधानता है।

इन सब तथ्यों पर विचार करने पर यही श्रेयस्कार जान पड़ता है कि उन पक्षों का पुनर्मूल्यांकन किया जाए जो रोग का कारण बनते हैं। इतना बन पड़ने पर ही अभीष्ट चिकित्सा पर कुछ टिप्पणी की जा सकनी संभव है। शरीर का धर्म है अपनी रक्षा के लिए व्यवस्था बनाना। जीवनी शक्ति के रूप में उसे एक सुरक्षा संस्थान मिला हुआ है। रक्त के श्वेत कण एक एम्यून संस्थान सुरक्षा सेना, सीमा आरक्षी बल का

कार्य करते हैं। बाह्य आक्रमणकारी जीवाणु-विषाणु पहले मानव शरीर में सुरक्षा पंक्ति की कमजोरी का जायजा लेते हैं। उनकी घातक सामर्थ्य में वृद्धि शरीर की कमजोरी के साथ बढ़ती जाती है एवं शरीर रोगी हो जाता है। रोग से निवृत्ति भी इस पर निर्भर करती है कि कितना शीघ्र विकृत द्रव्यों का निष्कासन संभव हो पाता है। शरीर के निष्कासन संस्थानों का सक्षम होना व्यक्ति के समग्र स्वस्थ होने का सूचक है। आंतरिक अंगों में से एक का भी व्याधिग्रस्त होना कमजोर जीवनी शक्ति, अपाहिज शारीरिक स्थिति एवं नए नए रोगों के आक्रमण में सहायक होता है। गुर्दे छन्नी की तरह रक्त में से विजातीय द्रव्यों को निकाल कर मूत्र रूप में बाहर निकाल फेंकते हैं। यही गुर्दे जब रोगग्रस्त हो जाते हैं तब सारा विजातीय द्रव्य शरीर में एकत्र होता चला जाता है। ऐसे व्यक्ति जीवित लाश की तरह अपनी यात्रा खींचते हैं। न श्वाँस ढंग से ले पाते हैं, न खाना ठीक से खा पाते हैं। बाह्य जीवाणुओं का घातक प्रभाव उन्हें शीघ्र मृत्यु के मुख में ले जाता है। चयापचाय के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विकार द्रव्य जब एकत्र होते चले जाते हैं तो आहार-विहार में व्यतिक्रम आ जाता है, प्रकृति के अनुकूल दिनचर्या का निर्धारण नहीं हो पाता है तो रोग की बाढ़ सी आ जाती है।

इस मूल आधार को समझने के बाद चिकित्सा व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित कर सकना संभव है। किसी भी लक्षण को दबाने के बजाय उसे जन्म देने वाले कारण को जड़ से मिटाना ही श्रेयस्कर है। तुरंत लाभ की दृष्टि से तो यही उचित लगता है कि सामयिक लक्षण को दृष्टिगत होते ही मिटा दिया जाए। गंदगी पर मिट्टी को डालने पर वह उस समय तो आँखों से ओझल हो सकती है पर वह नष्ट नहीं होती। दर्द को, वेदना को औषधियों से उस समय तो मिटाया जा सकता है। परंतु मूल रूप में बैठे रोग को यदि समूल नष्ट नहीं किया गया तो वह नए रूप में अधिक तीव्रता से उभर कर आ सकता है। अंततः निष्कर्ष

यही निकलता है कि इस चिकित्सा पद्धति के अंतराल में छिपे अंधविश्वास को जड़ से निकाल फेंक कर अब जनमानस को अपनी दृष्टि का परिमार्जन करना ही चाहिए, जितना भी श्रेष्ठ है, वह तो ग्राह्य है, पर सामयिक लाभ का दर्शन किसी भी मूल्य पर जीवन में नहीं उतारा जा सकता।

विकल्प के रूप में हमारे समक्ष एक ऐसा जीवन दर्शन आता है जिसमें प्राकृतिक आहार-विहार, रोगों के प्रति परिष्कृत दृष्टिकोण एवं औषधीय पौधों के रूप में सब ओर उपलब्ध दिव्य जड़ी-बूटियों की प्रधानता हो।

अनियमित एवं प्रकृति के प्रतिकूल जीवनक्रम विजातीय द्रव्य को एकत्र होने के लिए बाध्य करता है। ऐसे खान-पान के विषय में सर्वत्र व्याप्त अंध-विश्वासों के प्रति जन मानस का सचेत होना अत्यावश्यक है। सर्व-सुलभ वनस्पतियों, हरी सब्जियों में अन्य खनिज पदार्थों की अपेक्षा नमक इतना होता है कि शरीर की आवश्यकता की पूर्ति बराबर होती रहे, पर इससे भी अधिक मात्र स्वाद पूर्ति हेतु लिया जाने वाला सोडियम क्लोराइड नामक यह रसायन हृदय, रक्त संस्थान, गुर्दों पर प्रतिकूल प्रभाव डालकर अनावश्यक तत्वों के जमाव तथा आवश्यक घटकों के निष्कासन में सहायक होता है। दूध-हरी सब्जियाँ, अंकुरित अन्न, खटाई-मिर्च मसालों से रहित भोजन एक औसत श्रम में रुचि लेने वाले व्यक्ति को पूरी मात्रा में कैलोरी दे सकने में समर्थ हैं, ऐसा मत विख्यात चिकित्सकों का है। फिर भी अनावश्यक चर्बी युक्त, भोजन जिस मात्रा में पूरे विश्व में लिया जाता है, वह मात्र एक प्रकार की भ्रांति ही है जो विश्वमानस को जकड़े हुए है।

वनस्पतियों का जीवनी शक्ति संवर्द्धन एवं रोग निवारण में उपयोग चिर पुरातन काल से प्रतिपादित होता चला आया है। कहा

जाता है कि एक बार ब्रह्माजी ने चरक ऋषि को निर्देश दिया कि पृथ्वी पर जो भी पौधा व्यर्थ हो, तोड़ लाओ। ११ वर्ष भटकने के उपरांत वे ब्रह्माजी के सामने नतमस्तक होकर बोले-"प्रभो ! पृथ्वी पर एक भी पत्ता ऐसा नहीं मिला जो किसी न किसी रोग के उन्मूलन में सहायक न हो," इस कथन से पेड़ पौधों, जड़ी-बूटियों की महत्ता समझ में आती है। चरक ऋषि के बारे में वर्णित है कि वे औषधियों से उसके गुणों को पूछते जाते थे एवं तदनुसार उपयोग हेतु उनका संकलन करते थे।

इन सब आख्यानों से औषधीय पौधों की विलक्षण प्रभावकारी क्षमता पर प्रकाश पड़ता है। इसी मान्यता के कारण हिन्दू अध्यात्म में पौधों को देव समान मानकर पूजा-अभ्यर्थना करने का विधान बनाया गया है। पौधों को मध्यम योनि प्राप्त देव पुरुष माना गया है। उपनिषदकारों का कथन है कि-

यो देवो अग्नौ या अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य औषधीषु योवनस्पतिषु तस्मे, देवाय नमोनमः॥

—वेश्ताश्वतरोपनिषद् २।१७

अर्थात्-'जो परमात्मा अग्नि में है, जो जल में है, जो समस्त लोको में समाविष्ट है, जो औषधियों में है तथा वनस्पतियों में है, उस परमात्मा को नमस्कार है।' इस माहात्म्य को अब वैज्ञानिकों ने तथ्य रूप में स्वीकार कर लिया है। इसी पर शोधें केंद्रित भी है।

पाश्चात्य जगत में सबसे महत्त्वपूर्ण शोध इन दिनों 'रगग्जी' (बार्धक्य) पर चल रही है कि किस तरह अपनी मृत्यु को आगे बढ़ाया जा सके, इसी पर प्रयास केंद्रीभूत है। हिमालय की तराई में प्राप्त कायाकल्पी एवं अमर कंटकी नामक पौधे इन्हीं विशेषताओं से भरे पूरे हैं। इस पर विशद खोज की आवश्यकता है। वार्धक्य को नियंत्रित करने से मानव को कैंसर रूपी असाध्य रोग का उपचार भी हस्तगत

हो सकता है। कायाकल्प एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका सपना चिकित्सकगण देखते आए हैं। दोनों औषधियों में ये क्षमताएँ छिपी पड़ी हैं। चंदलिया नामक औषधि से पथरी का उपचार राजस्थान में बड़ा लोकप्रिय है। इसी प्रकार सहज सुलभ शंख पुष्पी स्मरण शक्ति को तेज करने के लिए बड़ी तादात में गाँवों में प्रयुक्त होती आई है।

आज कैंसर का उपचार रेडियो आइसोटोपों के माध्यम से किया जाता है। हिमालय के ऊपरी भाग में पाए जाने वाले 'कुमारिका' पौधे में भी इन आइसोटोपों को पहचान लिया गया है। कैंसर का उपचार इससे संभव है। प्रत्यक्ष प्रयोग परीक्षण द्वारा यदि सिद्ध किया जा सके तो चिकित्सा विज्ञान की यह सबसे बड़ी क्रांति होगी। रतनजोत, इल्लर-बिल्लर, सेल्सिया, भापिया, निकोटियाना आदि पौधों से भी कैंसर का उपचार ढूँढ़ा जा रहा है। केंद्रीय भैषज अनुसंधान संस्थान लखनऊ एवं बनारस हिंदू विश्व विद्यालय में इन पर प्रयोग चल रहे हैं।

एक्यूपंक्चर पद्धति के जन्मदाता चीन ने जड़ी-बूटियों पर आधारित चिकित्सा पद्धति का विकास करके कम खर्च में ही अपनी आवादी को अच्छा स्वास्थ्य देने में सफलता प्राप्त की है। आधुनिक चिकित्सा पद्धति भले ही इन जड़ी-बूटियों पर आधारित प्राचीन उपचार पद्धतियों की भर्त्सना करती हो लेकिन यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि प्रयोगशालाओं में रासायनिक विधियों से तैयार इन दवाओं में से अनेक के गुणकारी तत्वों की जानकारी सर्वप्रथम जड़ी-बूटियों के माध्यम से ही हुई थी।

ल्हासा में स्थापित तिब्बती चिकित्सा संस्थान में चीनी आयुर्वेद से संबंधित अनेक अलभ्य पुस्तकें सुरक्षित हैं। एक विशेषज्ञ के अनुसार चीन में लगभग ५००० जड़ी-बूटियाँ इलाज के काम में प्रयुक्त हो रही हैं। आधुनिक शोध उपकरणों की चीन ने अपनी जड़ी-बूटी

कोष में निरंतर अभिवृद्धि की है। 'वर्मबुड' नामक जड़ी से चीनी आयुर्वेदज्ञों ने चिंग हाओस् नामक दवा निकाली है जो मलेरिया रोग में क्लोरोक्विन से भी बेहतर उपयोगी पाई गई है। चीन में सड़कों के दोनों ओर पेड़-पौधे लगाते समय यह ध्यान रखा जाता है कि चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी पौधे अवश्य लगाए जाएँ। स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता उन्हें एकत्र करने व उगाने में सतत् व्यस्त रहते हैं। वे इन औषधियों से काढ़ा, चूर्ण, अवलेह बनाकर गाँव-गाँव घूमकर बाँटते रहते हैं। सन् १९७१ से अब तक चीन सरकार तीन लाख स्वास्थ्य कार्यकर्त्ता प्रशिक्षित कर ग्रामीण क्षेत्रों में भेज चुकी है। हृदयाघात में "साल्बिया मिल्टिरोइजा" ब्लड कैंसर में 'सिफेलोटेक्सस' साँस अवरोध में 'रियम टांकुटीकम तथा रेफेनस' का चीन में बड़ी सफलता से प्रयोग किया गया है। यह चीनी आयुर्विज्ञान ईसा से ३०० वर्ष पूर्व का है जबकि भारत का आयुर्वेद का इतिहास इससे भी पुराना है।

चीन की तरह भारत को भी इस गरिमा के प्रति सचेत हो जाना चाहिए। इस देश की विशाल जनसंख्या के स्वास्थ्य की सुरक्षा और रोगों से बचाव के लिए मँहगी चिकित्सा पद्धति कतई उपयोगी नहीं है। पीपल, तुलसी जैसी दिव्य वनौषधियों की हमारे यहाँ पूजा की जाती रही है। इनकी रोग निवारक क्षमता के अतिरिक्त भी इनमें कई ऐसे गुण हैं जो मनुष्य के सर्वांगीण विकास में सहायक हो सकते हैं, जटामाँसी, पीली, कनेर, सर्पगंधा, गुग्गल, हरिद्रा, दारुहल्दी जैसी औषधियों पर विशद अनुसंधान किया गया है एवं इनके फलदाई परिणाम सामने आए हैं। शरीर औषधि अनुसंधान परिषद के निर्देशक डॉ० पी० एन० बी० कुरुप के अनुसार अब भारतीय जड़ी-बूटियों से ऐसी दवाओं को बनाने में सहायता मिल सकने की संभावना है जो असाध्य रोगों को ठीक कर सकें।

आयुर्वेद की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है। आवश्यकता मात्र उसे आधुनिक

परिपेक्ष्य में प्रस्तुतीकरण की है। पिछले दिनों अमेरिका के एक विद्यार्थी ने पूना आयुर्वेद कालेज से आयुर्वेद में स्नातक की उपाधि ली है। प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान प्राप्त इस प्रतिभाशाली वैज्ञानिक ने आयुर्वेद के इस महान स्वरूप को विश्व व्यापक बनाने का संकल्प लिया है। रूस के राष्ट्रपति लियोनिडब्रेजनेव के हृदयाघात के उपचार के लिए भारत से ही आंध्र प्रदेश के एक जड़ी-बूटी विशेषज्ञ द्वारा 'सुनुम-ए-ए-मुखरीफ ए' स्तावत नामक जड़ी-बूटी भेजी गई थी।

यह विज्ञान चिर-प्रतिष्ठित चिकित्सा विज्ञान है। बड़े सुनिश्चित एवं मजबूत आधारों पर खड़ी यह पद्धति प्रकृति के अनुकूल जीवनचर्या को प्रधानता देती है। हमारे चारों ओर पाई जाने वाली इन दिव्य वनौषधियों के उपयोग को यदि बढ़ावा दिया जा सके तो एक वैकल्पिक जीवन दर्शन एवं पीड़ित मनुष्यता के लिए समग्र चिकित्सा प्रणाली का प्रतिपादन किया जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से यह पद्धति कम खर्च की भी है और हानि रहित भी। रोग निवारण में कुछ समय भले ही अधिक लगे, पर प्रतिकूल परिणाम सामान्यतया इसके नहीं होते। जीवनी शक्ति संवर्द्धन एवं जैविक वातावरण के अनुकूल ही शरीर की व्यवस्था का सुनियोजन इन औषधियों का उद्देश्य है। आध्यात्मवादी दर्शन यही है। आज इसी को अपनाए जाने की नितांत आवश्यकता है।

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा